(सर्वाधिकार सुरक्षित) http://www.jainkosh.org

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

आत्मकीर्तन प्रवचन

प्रवक्ता :
आध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक—
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

न्यौछावर १०००

सन् १९८८

मूल्य ५ रु०

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आत्मकीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

श्री "मत्सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

—:❀:—

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ।।टेक।।

१

मैं वह हूं जो हैं भगवान । जो मैं हूं वह हैं भगवान ।।
अन्तर यही ऊपरी जान । वे विराग यहं रागवितान ।।

२

मम स्वरूप है सिद्ध समान । अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान । बना भिखारी निपट अजान ।।

३

सुख-दुख दाता कोई न आन । मोह राग रुष दुखकी खान ।।
निजको निज परको पर जान । फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।

४

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम । विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।।
राग त्यागि पहुंचूं निजधाम । आकुलता का फिर क्या काम ।।

५

होता स्वयं जगत परिणाम । मैं जगका करता क्या काम ।।
दूर हटो परकृत परिणाम । "सहजानन्द" रहूं अभिराम ।।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्मकीर्तन प्रवचन

प्रवक्ता :—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५
क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज

(हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।)

आत्मा की खासियत जानने की आवश्यकता—

यह आत्मकीर्तन की टेक है, इसमें आत्मा का कीर्तन किया गया है। कीर्तन कहते हैं स्तवन को, उसकी खासियत बताने को। सर्वप्रथम यह निर्णय करिये कि आत्मा की खासियत जानने की जरूरत है क्या ? देखिये जगत के सभी जीव सुख चाहते हैं और दुःखसे डरते हैं। इन जीवोंका सिर्फ इतना प्रयोजन है कि हमको सुख मिले और दुःख न रहे। इसके अतिरिक्त और कुछ प्रयोजन नहीं जितने भी काम किये जाते हैं चाहे वे बड़े ऊंचे देश के कार्य हों, समाजके कार्य हों, किसी भी विषयके कार्य हों; उन सब कार्योंके किए जानेका मूल प्रयोजन है कि हमको सुख शान्ति मिले। उन कार्योंके करते हुए यदि सुख शान्ति नहीं मिल पायी तो वे उन कार्यों को न कर सकेंगे। अपनी शान्ति की आशासे ही सारे कार्य किए जाते हैं, तो इसमें तो संदेह नहीं कि हमारा प्रयोजन शान्ति पाने का है, हम शान्ति कैसे पायें ? इसके लिए बहुत तरह के अब तक उद्यमकर डाले। सोचा कि इसमें शान्ति मिलेगी किन्तु मिल न सकी। बचपनमें किस-किस तरह के विचार किये और यत्न किये कि शान्ति मिल जाये, अपने समवयस्क बच्चोंमें खेले कूदे। जो मनमें इच्छा हुई उसकी पूर्तिके लिये हठकी, पर कभी पूर्ति भी हुई क्या ? कितना ही उद्यम किया पर वहां भी रोते-रोतेमें ही समय गया। कुछ बड़े हुए तबकी करतूत परखिये। भले ही थोड़ा मौज मानकर रहे लेकिन कोई मौज टिक न सके। थोड़ी देरको मौज माना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो उसके बाद कठिन क्लेश आगए। जब जवान हुए कुछ घरका राग बढ़ा तो कितनी प्रकारके उद्यम करने पड़े, क्या-क्या विचार किए, इसलिए कि शान्ति मिले। घर क्यों बसाया ? इसलिए कि शान्ति मिले, पर अनुभव लोग क्या करते हैं कि घर बसाकर हमने गल्ती की। शान्ति तो यहां नहीं मिली रोज के झगड़े रहा करते हैं। तो कितने ही उद्यम करते जाते शान्ति के लिए और उसमें यही पाते हैं कि शान्ति नहीं मिली। जितना करते हैं उतना ही अशान्ति प्राप्त हुई। तब बाहर में कोई काम ऐसा नहीं है जो मेरे को शान्ति प्रदान करने का कारण बन सके कभी कल्पनायें करके सुख मान लिया, यह हमारी कल्पना की बात है लेकिन नियमित शान्ति न प्राप्त हो सकी।

आत्मशान्ति के उपाय की जिज्ञासा—और भी बातें सोच लीजिये। बहुत हैं जगत के कार्य सब सुविधायें भी हों आजीविका के झंझट नहीं करने पड़ रहे, समर्थ आय है तो अब लोक में इज्जत प्रतिष्ठा चाहिए, बड़ी सभावों के मेम्बर होना, अधिकारी होना, लोगों में समारोह होना, स्वागत होना आदि कितनी ही धुन बन जाती है और उनमें फिर कार्य बढ़ जाते हैं। अभी मेरा यह कार्य ढंग से नहीं हुआ, इसमें मेरी अभी पूरी शान नहीं बन सकी, आदि बातों का अनुभव करते हैं। तो लोक में ऐसा कौनसा कार्य है कि जिससे हम शान्ति पा सकें ? है तो नहीं कोई कार्य ऐसा। और, यह भी देखिये कि कुछ भी कार्य करें। कुछ भी उद्यम करें सभी व्यापारों में हम करते क्या रहे ? नाना विकल्पों चिन्तन और विचारों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करते रहे। तो जब हम लौकिक कार्यों में शान्ति न प्राप्त कर सके केवल अपने विचार और विकल्प ही बनाते रहे। कर न सके कुछ तो अब यहां बड़ी गम्भीरता से ज्ञान करना है कि आखिर कौनसा कार्य ऐसा रह गया कि जिसके किये बिना अब तक अशान्त हो रहे ? शान्त तो अब तक हो न सके ? इसमें कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि अब भी क्षोभ मचाते हैं, विकल्प उठाते हैं। चिंतायें करते हैं, उन्हें भोगना पड़ता है। तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

शान्ति तो प्राप्त हुई नहीं और कार्य कर लिये अनेक। एक मनुष्य भव की क्या बात, जब-जब जिन-जिन जन्मों में गए तब उन जन्मों के माफिक इसने अनेक कार्य किए कि शान्ति प्राप्त हो जाय। जैसे मनुष्य होकर यहां बच्चों से प्रेम किया। जैसे यहां मनुष्य अपने बसने के लिए घर बनाते हैं तो ये पशु-पक्षी भी अपनी योग्यता के माफिक कुछ स्थान और घोंसले आदिक बना लेते हैं। जैसे यहां मनुष्य अपनी सुख शान्ति के लिए आहार, निद्रा, मैथुन आदिक के प्रसंग करते, अनेक प्रकार के परिग्रह संचय करते तो ये पशु-पक्षी भी अपनी योग्यता माफिक इन्हीं क्रियावों को करते हैं। तो मनुष्य, पशु-पक्षी आदिक सभी इन बाह्य क्रियावों को खूब करते हैं पर न वे पशु-पक्षी ही उन क्रियावों से शान्ति प्राप्त कर सके और न ये मनुष्य ही उन क्रियावों से शान्त हो सके।

आत्म शान्ति के उपाय का निर्णय—अब विचार कीजिये कि शान्ति पाने के लिए कौनसा काम शेष रह गया है जिससे शान्ति मिले? यह बात एक साधारण रूप से सुनने की नहीं है, किन्तु अपने लिए अपना उत्तरदायित्व जानकर अपने भले के लिए समझने की बात है। बात तो कठिन यों लगेगी कि इस बात को अभी तक कर नहीं सके, जान नहीं सके विषय-वासना में अनन्तकाल व्यतीत हो गया, तो उस शरणभूत तत्त्व की चर्चा कठिन तो लगेगी ही। लेकिन जिनमें कल्याण की भावना है उन्हें अपना यह निर्णय बनाना चाहिये कि जब हमें लोक में किसी भी स्थिति से शान्ति न प्राप्त हो सकी तो हमको अब समझना यही है कि वास्तविक पुरुषार्थ कार्य वह कौनसा है कि जिसके करने से शान्ति अवश्य मिले? देखो—हम आप सभी भगवान की भक्ति करते हैं, कोई भगवान को अच्छी तरह से जान सका हो तो, न जान सका हो तो, रुढ़िवश अथवा स्वार्थवश कोई वास्तविक हितकार्य के लिए हम आप सभी प्रभु की भक्ति कर रहे हैं तो क्यों कर रहे हैं? कम से कम उन सभी पुरुषों को चाहे वे किसी उद्देश्य से भगवान को मानते हों, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वे सब इतना तो जान ही रहे हैं कि भगवान शान्त

http://sahjanandvarnishastra.org/

और सुखी हैं। यदि यह ध्यान में रहे कि भगवान कुछ अशान्त है, भगवान खुद दुःखी है तो इतना जो कोई जानेंगे, वे कभी भी भगवान की भक्ति नहीं कर सकते। चाहे लौकिक सिद्धि के लिए भक्ति करते हैं और चाहे आत्महित के लिए भक्ति करते हों, भक्ति तभी कर सकेंगे जब इतना समझलें कि भगवान पूर्ण सुखी और शान्त है। तो इससे यह भी पहिले निर्णय करें कि हो सकता है कोई आत्मा ऐसा कि जो पूर्ण शान्त हो, पूर्ण सुखी हो, और उन्होंने जो काम किया, जिस मार्ग पर वे चले उस मार्ग पर चलें तो हम भी शान्त और सुखी हो सकते हैं।

आत्मशान्ति के उपाय का अन्वेषण—जब अनेक कार्यों के करने के बावजूद भी शान्ति न पा सके तो हमको अब इस ओर दृष्टि करना है कि अब और कौनसा कार्य शेष रहा? इसका संक्षेप में उत्तर यह है कि हमें अपने आपके स्वरूप का ज्ञान करने का काम शेष रहा। और तो सब कर लिया पर हम अपने आपके सही स्वरूप को समझ नहीं सके। आत्म ज्ञान की आवश्यकता इस कारण है कि आत्मज्ञान के बिना हम अनेक कार्यों को करके भी शान्ति न पा सके और आत्मा का ज्ञान किया जायगा तो अवश्य शान्ति मिलेगी। क्यों मिलेगी अवश्य शान्ति? शान्ति चाहते हैं सभी, पर यह बतलावो कि उस शान्ति का आधार कौन है? वह शान्ति कहां मिली? कहां बर्त रही है? जैसे इन्द्रिय के विषयों को भोगने में सुख शान्ति माना तो यह बतलावो कि वह शान्ति कहां बर्त रही है? वह शान्ति तो खुद में ही बर्त रही है, इतना तो सर्वजन साधारण को ज्ञान है भले ही विषयों का साधन मिलाने से, अच्छी चीज देखने से, राग रागनी के शब्द सुनने से स्वादिष्ट भोजन करने से या अन्य बातों से शान्ति मिली मगर किसी पुरुष को यह विश्वास नहीं है कि यह शान्ति यहां बन रही है, यहां गुजर रही है? भले ही यह माने कि हमको शान्ति विषयों से मिली, भोजन से मिली पर वह शान्ति भोजन में, विषयों में बन रही है, ऐसा किसी को भी विश्वास नहीं है। सभी लोग यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अनुभव करते हैं, यह महसूस करते हैं कि शान्त तो हम हुये। सनीमा देखकर लोग महसूस करते हैं शान्ति, तो कहां अनुभव करते हैं ? क्या पर्दे पर ? अरे ! सभी को यह विश्वास है कि शान्ति मुझमें आयी। तो शान्ति जहां आयी उसका परिचय करने की इच्छा क्यों नहीं की जाती ? जहां शान्ति बनती है उसकी परख कर लेवे तो शान्ति अवश्य मिलेगी। इसीलिए शान्ति के आधार-भूत अपने आपके स्वरूप का ज्ञान करने की अत्यन्त आवश्यकता है। भैया सच पूछो तो तथ्य की बात करने योग्य बात यही है कि अपने आपके स्वरूप का ज्ञान करें। जब तक न आये सुबुद्धि तब तक भले ही यह बात न रुचे लेकिन जिन्हें इस ओर रुचि है कि हमको तो इतना काम बनाना है उन्हें अवश्य शान्ति मिलेगी। लेकिन हर एक कार्य में लग लग कर भी शान्ति न मिलेगी। शान्ति का जो आधार है उसकी परख होगी तब शान्ति प्राप्त होगी।

आत्मस्वरूपानुवृत्ति से ही मानव जीवन की सफलता—यह मानव जीवन एक आत्मज्ञान करने और उसके अनुरूप आचरण करने से ही सफल हो सकता है अन्य बाहरी बातों से इस मानव जीवन की सफलता नहीं है। मानलो खूब धन संचयकर लिया तो क्या उससे शान्ति मिलेगी ? उससे शान्ति न मिलेगी बल्कि आकुलतायें ही रहेंगी। धन का खूब संचय करके मर जाने के बाद क्या शान्ति पायी ? मर जाने के बाद फिर क्या पता वह कहां जन्म ले, उसपर क्या बीते उसके लिए तो फिर वह संचित किया हुआ धन कुछ भी काम न आयगा। तो धन वैभव की धुन में रहकर उस ही की तृष्णा में रहकर सारा जीवन खोया तो यह मूढ़ता भरी बात है यह नहीं सोचते जाइये। कि लोग प्रशंसा, कीर्ति की बढ़वारी में सुख मानते हैं पर उनके जीवन को देखलो कहां उन्हें शान्ति है ? वे तो बड़े बेचैन हैं। ऐसे लोग जो मानसिक विषयों के लिये बहुत बढ़ना चाहते हैं (मानसिक विषय है यश कीर्ति वगैरह की चाह करना) उन ही लोगों के प्रायः हार्टफैल हुआ करते हैं। जो श्रम करने वाले और अपने थोड़े से परिग्रह में सन्तुष्ट रहकर उतना ही उद्यम करके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जीवन गुजारने वाले लोग हैं उनमें हार्टफैल होने की नौबत प्राय: नहीं आने पाती। तो कारण क्या है कि मानसिक विषय का सम्बन्ध है दिल से। बड़ी कसरत की जाती है यश और कीर्ति की चाह व युक्ति उत्पन्न करने के लिए। दिल की बड़ी तेज कसरत में यह दिल फैल हो जाता है। तो कहां शान्ति की बात मिलेगी सो बताओ? दुनियां में किसी भी जगह शान्ति मिलने की आशा नहीं है। शान्ति के आधारभूत अपने आपके स्वरूप को समझने के लिए कि मैं क्या हूं, उद्यम किया जाय तो शान्ति प्राप्त हो सकेगी।

अन्तस्तत्त्व की रूचि न होने का कारण विषय वासना का संस्कार—यद्यपि सभी लोग अपने आपके बारे में कुछ न कुछ समझ ही रहे हैं, यदि अपनी समझ न हो जरा भी तो वहां सुख और दु:ख हो ही नहीं सकते। सभी जीवों को अपनी समझ है। चाहे वे पेड़ पौधे हों, अथवा कीड़ा मकोड़ा, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि हों, सभी अपने आपकी कुछ समझ बनाये हुए है तभी तो वे सुखी अथवा दु:खी होते हैं और तभी वे कुछ न कुछ कार्य करने का यत्न करते हैं। लेकिन वह समझ गलत है। माना तो अवश्य कि मैं हूं, पर मैं को जिस रूप में माना वह समझ यदि गलत हो तो उससे तो सुख शान्ति नहीं मिल सकती। तो अपने आपको समझना होगा कि मैं असल में हूं क्या? देखिये आत्मा की बात कही जा रही है, "मैं" की बात कही जा रही है। जिसमें लोग मैं मैं ऐसा ज्ञान किया करते हैं उस मैं की बात कही जा रही है। सुनने में, समझने में अपनी बात कठिन तो न लगना चाहिये। कठिन तो परकी बात लगना चाहिये, खुद की बात समझने में क्या कठिनाई? किन्तु जब चित्त कलुषित हो, विषय वासना में फंसा हुआ हो तब उसके लिए अपनी बात, अपनी चर्चा, अपनी समझ कठिन हो जाया करती है। और कठिन क्या हो जाया करती हैं, प्रथम तो अपनी बात सुहाती ही नहीं है। मैं क्या सुनूं, वहां तो सिवाय आत्मा आत्मा के अन्य कुछ नहीं हैं, चाहिये तो यहां का आराम यहां की सुख सुविधायें, यहां के वैभव, और चर्चा की जा रही है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्मा की, जिसको सुनकर कुछ मिलता भी नहीं है, भला दूकान पर बैठने से तो कुछ मिल भी जाता है, यों जब अपने आपकी बात सुनने की रुचि ही नहीं है, विषयों की ओर उन्मुखता है, तो वहां अच्छी बात भी सुहा नहीं सकती। और तिस पर भी कि उन वासनाओं में हम दुःखी होते हैं, अपमान सहते हैं, विरोध होता है, व्यग्र रहते हैं, इतने पर भी वे वासनायें ही सुहाती हैं, और जो सुख का साधन है, परमात्मा का स्वरूप है, अपने आपका जो अन्तः स्वरूप है, उसकी रुचि ही नहीं जगती। जब विषयों की वासना है तो वहां ऐसी ही परिणति हुआ करती है।

विषय वासना वाले चित्त में आत्मदर्शन की रुचि न हो सकने पर एक दृष्टान्त—दो सहेलियां थीं, एक थी ढीमर की लड़की और एक थी माली की लड़की। माली की लड़की तो एक शहर में ब्याही गई और ढीमर की लड़की एक छोटे से गांव में ब्याही गई। वह ढीमर की लड़की मछलियां बेचने के लिए शहर जाया करती थी। एक दिन जब वह मछलियां बेच चुकी, साम हो गई तो सोचा कि आज अपनी सहेली के घर रह जावें, कल अपने घर चली जावेंगी। पहुंची वह अपनी सहेली के घर। तो मालिन की लड़की ने अपनी बहुत दिनों में मिलने वाली सहेली का बड़ा आदर किया। खूब अच्छी तरह खिलाया पिलाया। जब रात के ६ बज गए तो एक अच्छासा पलंग उसके सोने के लिए सजाया। बड़ा कोमल गद्देदार पलंग उस पर बिछी हुई चादर, और उस पर सुगंधित फूलों की पंखड़ियां आदि पड़ी थी। जब वह ढीमर की लड़की उस पलंग पर लेटी तो वह इधर उधर करवटें बदलती रही, नींद न आवे। तो मालिन की लड़की ने पूछा क्या बात है सहेली। जो तुम्हें नींद नहीं आ रही तो वह ढीमर की लड़की बोली—अरी बहिन न जाने तुमने इस पलंग पर क्या डाल रखा है जिसकी दुर्गन्ध की वजह से हमें नींद नहीं आ रही। मालिन की लड़की बोली—अरी बहिन ! ऐसे सुगन्धित पलंग पर सोने के लिए तो राजा महाराजा भी तरसते हैं, कहां है यहां दुर्गन्ध ? तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वह बोली—अरे होंगे कोई राजा महाराजा यहां तो मारे गंध के हमारा दिमाग फटा जाता है। खैर मालिन की लड़की ने फूलों सहित चादर को हटा दिया। इतने पर भी उसे नींद न आये, इधर उधर करवटें बदले। तो मालिन की बोली—बहिन अब क्यों नींद नहीं आ रही? तो ढीमर की लड़की बोली—अरे नींद कहां से आये, वह गन्ध तो यहां सारी जगह छायी हुई है। तो फिर मालिन की लड़की बोली कि नींद आने का कोई उपाय भी है कि नहीं? तो वह ढीमर की लड़की बोली—हां एक उपाय है, क्या? कि हमारा जो वह मछलियों का टोकरा रखा है उसपर पानी की कुछ छीटें मारदो और फिर उसे हमारे सिरहने धरदो, तब नींद आयगी। उस माली की लड़की ने वैसा ही किया तब ढीमर की लड़की को नींद आयी। तो प्रयोजन कहने का यह है कि जो दुर्गन्ध में ही रातदिन बस रहे हों उन्हें फूलों की सुगंध कहां से सुहाये। यों ही जो विषय वासनाओं की गंदगी अपने आपमें बसाकर रह रहे हैं उन्हें आत्मा की बात, परमात्मा की बात कहां से रुचे?

लाभ का सम्बन्ध—भला बतलाओ तो सही कि बाहर जहां कहीं भी अपनी रुचि लगा रखी है वहां से लाभ की बात क्या मिल रही है? सिवाय विडम्बनाओं के, विपदाओं के और कोई लाभदायक बात तो नहीं मिल रही। इस मानव-जीवन को प्राप्तकर अपना एक आग्रह बने कि हमें तो अपने सत्यस्वरूप का दर्शन करना है। मेरा जो सत्त्व है, मेरा जो यथार्थ स्वरूप है उस ही को हमें समझ करना है। इस जीवन में शान्ति प्राप्त करने के लिए हम अनेक यत्न कर चुके, किन्तु अपने आपके सही स्वरूप का ज्ञान नहीं कर पाया। अब तो हमारे जीवन में कोई दूसरा उद्देश्य है नहीं, एक यही मूल उद्देश्य है कि हम अपने आपके यथार्थ स्वरूप को समझलें। मैं स्वयं अपने आप अपने ही सत्त्व के कारण सहज किस स्वरूप हूं। इस निज स्वरूप की परख होनेपर लोक में किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं रह सकती। जब जान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लिया मैं यह ही पूर्ण सर्वस्व हूं, इससे आगे मेरा वास्ता ही नहीं, फिर आकुलता का काम ही क्या रहा ?

हूं में अन्तस्तत्त्व का निश्चय—आत्मा को जानने के लिए सबसे पहिले उसके बारे में अस्तित्त्व का निश्चय रखना चाहिए, अर्थात् मैं हूं। मुझे अपने आपके बारे में ज्ञान करना है तो "हूं", इसका निर्णय पहिले होना चाहिये। जब तक पदार्थ के अस्तित्त्व का बोध न हो तब तक उसके बारे में और अन्य-अन्य खासियतें भी कैसे बतायी जायें ? सबसे पहिले यह जानना है कि "हूं" और इस आत्म-कीर्तन की इस टेक में सबसे पहिला शब्द आया भी है "हूं"। इसे मैं शब्द से भी कह सकते थे, मैं स्वतंत्र निश्चल निष्काम, किन्तु मैं शब्द से न कहकर हूं से कहा गया तो इसमें कुछ भाव है। मैं शब्द के बोलते ही कितनी ही विशुद्धि के साथ बोलें, उसमें "मैं पने" का रंग आ जाता है। दूसरी बात यह है कि मैं के कहने से क्रिया सम्बंधी जितने मर्म हैं वे मर्म इसमें विदित नहीं हो पाते और हूं के कहने से चूँकि मैं तो उसके साथ है ही, क्रिया के साथ मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष के नियतकर्ता निश्चित हुआ करते हैं। एक अन्य पुरुष माने थर्ड पर्सन का कर्ता अनिश्चित होता है पर मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष (फर्स्ट एण्ड सैकिण्ड परसन) इनका कर्ता नियत हुआ करता है। तो हूं के कहने से "मैं" कर्ता नियत हो ही गया, पर "हूं" में अस्तित्त्व के कारण जो विशेषतायें हैं वे और अधिक प्रत्यय में आ जाती है।

हूं के प्रकाश में अस्तित्व और वस्तु का परिचय—सबसे पहिले यह जानना है कि जो भी पदार्थ है, जिस किसी भी पदार्थ का अस्तित्त्व है उसमें ६ खासियत अवश्य होती हैं। पहिली विशेषता तो "है" की है। वह पदार्थ है, उसका अस्तित्त्व है। मैं हूं यदि मैं न होऊं तब तो बड़ी अच्छी बात निकली, क्योंकि मैं न हुआ तो सुख-दुःख किसमें होंगे ? जो है वह सदा रहेगा। जो नहीं है वह कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकता। यह बात मूलतः

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कह रहे हैं। मैं हूं, मैं हूं, ऐसा कहने के साथ ही यह बोध हो जाता है। मैं मैं हूं, मैं अन्य नहीं हूं। जैसे कहा—घड़ी है तो हम अस्तित्त्वमुखेन घड़ी को सीधा जान रहे हैं, पर घड़ी है ऐसा कहने में यह बात गर्भित हो जाती है कि घड़ी-घड़ी है, घड़ी को छोड़कर अन्य सब कुछ नहीं है। इन दो बातों में से याने विधि निषेध में से यदि एक बात मानो और दूसरी बात न मानें तो दोनों ही बातें गलत हो जाती हैं। घड़ी के बारे में माना कि यह तो "है" ही है। क्या है? घड़ी है? हां है, बेन्च है? हां है, सारी वस्तुवों के नाम लेकर इसे "है" ही है कहा जाय घड़ी के बारे में तो घड़ी एक चीज न रही। यह चीज घड़ी भी है, बेन्च भी हैं, चटाई भी है तो घड़ी कहां रही? और, यदि इसमें न न का ही हठ करते जायें, न बेन्च है, न चटाई है, न घड़ी है तो फिर घड़ी क्या चीज रही? किसी भी पदार्थ के बारे में उसका अस्तित्त्व तभी कायम रह सकता है जब वह अपने स्वरूप से हो और परके स्वरूप से न हो। यह बात वस्तु में अपने आप धर्म पड़ा हुआ है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से है, परके स्वरूप से नहीं है, यह है दूसरी खासियत। मैं हूं यह है पहिला गुण। मैं मैं हूं। मैं अन्य नहीं हूं, मैं अपने स्वरूप से हूं, परके स्वरूप से नहीं हूं। यह है इसमें दूसरा गुण। जिसका नाम है वस्तुत्व। अब आगे चलिये, देखिये अभी जो दो गुण कहे गये हैं इतने मात्र से वस्तु की सत्ता नहीं रह सकती है। याने कोई पदार्थ "है" इतने मात्र से वह पदार्थ रह नहीं सकता। उसकी कोई न कोई अवस्था हो, व्यक्त रूप हो, आकार प्रकार हो, परिणति हो तब उसका अस्तित्त्व रह सकता है। तो वस्तु में ही स्वयं यह धर्म पड़ा है कि वह निरन्तर परिणमती रहती है।

आत्महित में साधारण गुणों के परिचय का महत्व—देखिये—ये सब अभी छह साधारण गुण कहे जा रहे हैं। लेकिन ये साधारण गुण हैं तो सही साधारण गुण के नाम से, किन्तु अपने कल्याण के लिए इसकी जानकारी बड़े महत्त्व को रखती है। मैं मैं हूं, मैं अन्य नहीं हूं, मैं अपने स्वरूप से

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हूं, परके स्वरूप से नहीं हूं, ऐसा निर्णय हो जाय अपने आपके स्वरूप को छूकर, इस बात का यदि पक्का परिचय हो जाय तो उसे आकुलतायें नहीं रह सकतीं। लोग आकुलतायें दूर करने के लिए, अपने को सुखी शान्त रखने के लिए भारी श्रम करते हैं, लेकिन एक यह सत्य ज्ञान का थोड़ा भी श्रम किया जाय तो इसको शान्ति निराकुलता प्राप्त हो जायगी। सच पूछो तो अपने आपकी चर्चा, जानकारी, निकट रहना, धर्म का पालन करना, इनसे इस मनुष्य जीवन की सफलता है, अन्य बातों से मानव-जीवन की सफलता नहीं है। धन संचय खूब कर लिया गया तो उससे होगा क्या अन्त में ? परिजनों को खूब पढ़ा-लिखा दिया, ऊंचे ओहदे पर पहुंच गए तो इसमें कौनसी सार-भूत बात प्राप्त हो गई ? अरे अनन्त जीव हैं। सबके साथ उनका अपना-अपना भाग्य है, जिसका जैसा भाग्य है उसको वैसा बनता है पर लोग उन प्रकट भिन्न जीवों को अपना मानकर उनके पीछे हैरान होते हैं, उनके पीछे नाना प्रकार के विकल्प, नाना प्रकार की चिन्तायें करते हैं। अरे इन व्यर्थ के विकल्पों में कितना पाप बंध हो रहा है ? भले ही आज उन व्यर्थ के विकल्पों को पापरूप नहीं गिनते, उनमें मौज मान रहे हैं, पर उनका फल तो भोगना ही होगा। जैसे कोई आग में गिरे और मौज माने इसी प्रकार ये जीव इन विकल्प विपदाओं में गिर रहे हैं और मौज मान रहे हैं। ये विकल्प ही मात्र विपदायें हैं इस जीवपर। विकल्प न हों तो जो प्रभु का स्वरूप है वही इस जीव का स्वरूप है। इसे कोई दुःख नहीं। हम आप किसी को कोई दुःख नहीं। यदि अपनी ही दृष्टि रखें, अपनी ही ओर रहें तो कोई क्लेश नहीं। कोई कहे कि ऐसा कैसे रहा जा सकता है ? आखिर घर में हैं। घर जाना पड़ेगा, कमाई करनी पड़ती, परिवार में बोलना ही पड़ता, तो ठीक है। सच्चे स्वरूप का ज्ञान करके परिवार में भी रहें तो वहां यह तो ज्ञान बनाये रख सकते हैं कि जितने लोग हैं परिवार के सबके साथ कर्म लगे हुए हैं। भाग्य लगा है। यदि बात असत्य हो तो मत मानो। अब मैं क्यों विह्वल

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होऊं यह क्यों सोच होता उनके बारे में कि मैं बहुत धन कमा जाऊं ? अरे इनके यदि पाप का उदय है तो लाखों की सम्पदा एक वर्ष भी न ठहर सकेगी और यदि उदय पुण्य का है तो चाहे मैं उनकी कुछ भी न फिकर करु, अपने धार्मिक कार्यों में ही मस्त रहूं तो भी उन सबके भाग्य से लाखों का वैभव कुछ महीनों में ही प्राप्त हो सकता है। और ऐसी बातें देखी जा रही हैं। सबके साथ भाग्य है। अच्छा आप बहुत-बहुत ममता रखें, बड़ी सेवा करें, बड़ी खबर लें और उनका आये पाप का उदय, शरीर में कोई कठिन रोग हो जाय तो आपका क्या वश चलेगा ? दिमाग में कोई कठिन परिवर्तन हो जाय तो आपका क्या वश चलेगा ? तो घर में रहने वाले लोगों के साथ भाग्य लगा है कि नहीं ? लगा है, तो इतना ध्यान बनाये रहो कि सबका सबके साथ भाग्य है। अच्छे रहें उनकी बात, अच्छे न रह सकें उनकी बात। अपना तो अनायास थोड़ा सा व्यवहार करने भर का काम है ताकि हमारा घर में गुजारा बना रहे। तो वस्तु के साधारण गुणों का परिचय पाने पर भी कितना ही इस जीव को शान्ति प्राप्त हो जाती है।

हूं में ब्रह्मत्व का प्रकाश—मैं हूं, अपने स्वरूप से हूं, परके स्वरूप से नहीं हूं, और निरन्तर परिणमता रहता हूं, किसी न किसी अवस्था में आता रहता हूं। अवस्था बिना चीज क्या ? कुछ लोगों ने ऐसा मान लिया कि सारे जगत में एक ब्रह्म है और अविकारी है, अपरिणामी है, तो अपरिणामी कुछ क्या होगा ? हव्वा होगा। कुछ समझ में ही नहीं आता। हव्वा में तो फिर भी कुछ रखा है। रात के समय उजेले की कोई छाया दिखाकर किसी बच्चे को यह कहकर डरा दिया कि देखो वह हव्वा है। तो वहां भी कुछ बात मिली, किन्तु जहां व्यक्ति नहीं, प्रकटरूप नहीं, अवस्था नहीं, उसका अस्तित्व क्या ? ब्रह्म है। बात सही है, और उस ब्रह्मत्व के दर्शन से ही जीव पार पा सकेगा। लेकिन वह ब्रह्मत्व क्या है, कहां है, कहां मिलता है, उसकी विधि तो मालूम होनी चाहिए। वह कोई एक अलग है, स्वतंत्र है, फैला हुआ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है ऐसा क्या एक ब्रह्म है। वह तो घट-घट में है, प्रत्येक जीव में हैं। जो भी जीव बाह्य विकल्पों को हटाकर अपने आपमें विश्राम करके निर्विकल्प बने, किसी भी विकल्प में उपयोग न फंसाये केवल शुद्ध चित्प्रकाश मात्र ही उसके उपयोग में रहे, और इससे आगे और भी निर्विकल्प बने, जिसके लिए कोई कहने वाला शब्द नहीं है। उस अनुभूति की स्थिति में यह ब्रह्मत्व का साक्षात् अनुभव करता है। अनुभव करने के बाद यह ख्याल करेंगे कि ओह! वह ब्रह्मत्व कहां था? क्या मुझ में था?…नहीं। क्या बाहर में था! · नहीं। क्या सब एक था?…नहीं। क्या कहीं न था? · नहीं। जिसके बारे में कोई एक आधार के ढंग से उत्तर हो ही नहीं सकता। वह तो अनुभूति में था। न उसकी जगह बता सकते, न उसका आकार-प्रकार बता सकते, न उसका फैलाव बता सकते। उस अनुभव करने वाले की जो दृष्टि है उतनी ही तो उसकी दुनिया है, और उसमें वह पूरा व्यापक है। तो यों वह ब्रह्म व्यापक है। उस अनुभव करने वाले को न एक का पता रहा न अनेक का, ऐसा वह विलक्षण अद्वैत है। पर उसे अपरिणामी और सर्वव्यापक व बाहर में रहने वाला न मान लिया जाय तो द्रव्यत्व गुण माने बिना, परिणमनशील माने बिना उसका अस्तित्त्व नहीं कहा जा सकता।

हूं के सहयोगी द्रव्यत्व और अगुरुलघुत्व—मैं हूं, अपने स्वरूप से हूं, पर के स्वरूप से नहीं हूं, और निरन्तर परिणमता रहता हूं। अच्छा बनूँ, बुरा बनूँ, विकल्प वाला बनूँ, निर्विकल्प बनूँ। होता रहता है निरन्तर कुछ न कुछ। पर इस परिणमन में स्वच्छन्दता नहीं है कि मैं जो चाहे परिणमता रहूं। जिस चाहे रूप बनता रहूं। यदि ऐसा करने लगूँ तो मेरा अस्तित्व ही न रहेगा। मैं दूसरी वस्तुरूप परिणमने लगूँ तो मैं ही तो वस्तु नहीं हूं, कोई दूसरा मुझरूप परिणमने लगे तो फिर दुनिया में क्या रहेगा? इस कारण जो है उसमें यह भी गुण है कि अपने में ही परिणमे, दूसरे में न परिणमे। इतनी सब बातें समझ लेने पर भी जब तक उसका ठौर ठिकाना, आकार-प्रकार ज्ञात

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

न हो, तब तक ये बातें भी कुछ समझ में न आयेंगी।

हूं के सहयोगी प्रदेशवत्व व प्रमेयत्व—किसी चीजका हम वर्णन करें और उसका आकार भी हमारी नजर में न हो तो हम उस वर्णन का कुछ लाभ ही नहीं उठा सकते। और वस्तु में है यह सहज गुण कि वह किसी न किसी आकार में रहता है। जो है वह कुछ तो होगा। कितना ही तो फैला हुआ होगा। चाहे एक प्रदेशी हो, चाहे नाना प्रदेशी हो, वह तो कुछ होगा ही। तो किसी न किसी आकार में रहना, अपने आपके प्रदेश होना, यह उसमें गुण है। तो वस्तु में यह ५ वां गुण है कि वह प्रदेशवान हो। साथ ही जो वस्तु है उसमें यह गुण है कि वह ज्ञान में आ सकता है। जो सत् है वह ज्ञान में आया करता है। जो सत् नहीं है वह ज्ञान में नहीं आता। तो मैं हूं इतना कहते ही यह सारी की सारी अपनी आन्तरिक रचना ज्ञानी के ज्ञान में आ जाती है।

हूं के प्रकाश में अनेक गुणों का वास—परिचित पुरुषों को ६ गुणों को कहकर इतना बड़ा विस्तार बताने की जरूरत नहीं है मैं एक हूं, इतना कहते ही वह सबका सब विस्तार विवरण गर्भित हो जाता है। हूं इस कारण तो मैं अपने स्वरूप से हूं। पर के स्वरूप से नहीं हूं। अगर इन दो में से एक भी बात न रहे तो मैं हूं रह ही नहीं सकता। मैं हूं इसी कारण तो निरन्तर परिणमता रहता हूं। यदि मैं परिणमता न होता तो मैं हूं रह ही न सकता। मैं हूं तभी तो अपने स्वरूप में परिणमता हूं, परके स्वरूप में नहीं परिणमता, इन दो बातों में से यदि एक भी बात खतम करदें तो मैं हूं रह ही नहींसकता। मैं हूं इसलिए कुछ न कुछ अपना घेरा जरूर रखता हूं। यदि कुछ घेरा न हो। कुछ भी आकार न हो तो मैं हूं रह ही नहीं सकता। मैं हूं अतएव ज्ञेय हूं। ज्ञान में आता ही हूं। ज्ञान में न आता होऊं तो मैं हूं रह ही नहीं सकता। ज्ञान की ऐसी अद्‌भुत शक्ति है कि जगत में जो भी सत् हों वे सब ज्ञान में आ जाये। हम सामने की चीज देखते हैं और जान लेते हैं इससे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कुछ ऐसा ख्याल बना लेते कि सामने हो तब ज्ञान में आता है। ज्ञान को जानने के लिए सामने पदार्थ के आनेकी कोई आवश्यकता नहीं। केवल उसके सत्वकी आवश्यकता है। होना चाहिए सत्, तो वह ज्ञान में अएगा। हम आपकी जो वे स्थितियां बनी हैं कि सामने चीज हो तबही ज्ञान में आये और पीठ पीछे चीज हो तो वह ज्ञान में न आये, यह तो हमारे ज्ञानकी एक कमजोरी है। पर ज्ञानका ऐसा स्वभाव नहीं ज्ञानका स्वभाव सर्वदेश सर्वकाल के सर्व सत पदार्थों को एक साथ जानना। इस अमूर्त ज्ञान के लिये तो चारों ओर सामना ही सामना है। देशकृत सामना कहने से गुजारा न चलेगा। यह ज्ञान तो भूतभविष्य सबको जानता है। कालका सामना क्या? तो जैसे हम वर्तमानकाल को अपना सामना कहते हैं ऐसे ही ज्ञान ज्योति के लिए अनादि अनन्तकाल सारा का सारा सामना है। ज्ञान में ऐसी शक्ति है कि जो भी सत् हो वह सब ज्ञेय में आये। तो मैं हूं इसलिए अवश्य ज्ञेय हूं।

साधारण गुणों के परिचय में आत्महितका सहयोगी चिन्तन—

अब इन ६ साधारण शक्तियों को निरखकर भी हम अपने आप में कल्याण की बात उत्पन्न कर सकते हैं। यद्यपि अभी असाधारण गुण की बात नहीं कही— मैं चेतन हूं, इसे अभी नहीं कहा, लेकिन असाधारण गुण के बिना वस्तु नहीं रहती, और तब साधारण का वर्णन करके भी असाधारण तो साथ ही साथ है। अपने आपके बारे में इतना विश्वास बना लीजिये कि मैं हूं अपने स्वरूप से हूं, परके स्वरूप से नहीं हूं। जिसका अर्थ है कि मैं समस्त परद्रव्यों से निराला हूं। त्रिकाल भी मेरा किसी भी परद्रव्य के साथ सम्बंध नहीं है। मैं बनता हूं, अपने में बनता हूं। इसका स्वात्मप्रदेशों से बाहर कुछ सम्बंध नहीं और ऐसे ही सब जीव हैं, इस कारण मेरा किसी भी जीव से कोई सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। कहां अनुभव करें, इस मैं को? वह आधार अपने आप ही है। वही है मेरा प्रदेश, वही है मेरा आकार, तन्मात्र हूं मैं। इससे बाहर अन्यत्र कहीं में नहीं हूं। इस तरह सबसे विभक्त और अपने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आपके एकत्त्व में रहने वाला यह मैं हूं। इस तरह का निर्णय करने के बाद अब इस मैं हूं की अन्य विशेषतायें कही जायेंगी।

आत्मा की असाधारण गुणमयता—यह मैं आत्मा अस्तित्त्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्त्व, अगुरुलघुत्त्व, प्रदेशवत्त्व और प्रमेयत्त्व इन ६ साधारण गुणोंरूप हूं। किन्तु किसी भी पदार्थ में केवल साधारण गुण ही रहें उससे अस्तित्व नहीं बनता। पदार्थ की खासियत, विशेषता असाधारण गुण पदार्थ में होना ही चाहिए और इस कारण पदार्थ साधारण असाधारण गुणमय है। न केवल साधारण गुणोंरूप पदार्थ होता है और न केवल असाधारण गुणोंरूप पदार्थ होता है। जैसे—जींव में असाधारण गुण है चेतन। चेतन तो हुआ करे, पर अस्तित्त्व न हो तो है ही क्या? वस्तुत्त्व न हो, जिसके कारण चेतन अपने रूप से तो है और अन्य अचेतन पदार्थों के रूप से नहीं है, वस्तुत्त्व न हो तो असाधारण गुण क्या करे? द्रव्यत्व गुण न हो तो उसका कोई व्यक्तिरूप ही नहीं हो सकता। तो इसी प्रकार असाधारण गुण साधारण गुणों से सहित होकर ही अपना बिलास कर पाते हैं और साधारण गुण भी असाधारण गुण से सहित होकर अपना विलास कर पाते हैं। यों आत्मा साधारण गुणरूप भी है और असाधारण गुणरूप भी है। पदार्थों की सामान्य विशेषात्मकता निवारे भी नहीं निवारी जा सकती है। प्रमाण का विषयभूत जो कुछ भी हैं अर्थात् जो भी सत् हैं वे समस्त सत् सामान्य विशेषात्मक हैं।

सर्वसाधारण धर्मदृष्टि से विश्व की एकरूपता—सामन्य विशेषात्मकता का निरूपण भी दृष्टि की भिन्नता से भिन्न-भिन्न रूप भी हो जाता है। जैसे—अभी इस प्रसंग में कि आत्मा साधारण गुणोंमय है और असाधारण गुणोंरूप भी है, साधारण गुणरूपता तो सामान्य है और असाधारण गुणरूपता विशेष है। यह आत्मा अस्तित्त्वादिक साधारण गुणोंरूप है। इसमें तो सामान्य का बोध होता कि हां है यह आत्मा। जैसे कि समस्त पदार्थ हैं तैसे ही यह आत्मा है और इस दृष्टि से सब पदार्थ एक हैं। सब सत् हैं और इस ही का

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

एकान्त मत करके कहते हैं—सत् ब्रह्म। जो सत् है उस ही का नाम ब्रह्म है। समस्त पदार्थ ब्रह्मस्वरूप है यह कथन आता है। सामन्यरूप से समस्त विश्व को सत् कहना यह कुछ अयुक्त बात नहीं है, लेकिन कोई उसका ही एकान्त करले अर्थात् इस सत्स्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ विशेषता नहीं है तब वह वस्तु स्वरूप के विरुद्ध होता है। एक दृष्टि से अगर निहारा जाय तो इस तरह से भी कल्पना कर सकते हैं कि सारा विश्व एक सत् है। और इस सत्त्व की निगाह में सब कुछ अद्वैतमात्र है। दूसरा कुछ है ही नहीं। बतलावो—सत् के अतिरिक्त भी कुछ है क्या? सत् के अतिरिक्त शब्दों में कहा जायगा असत् और असत् माना नहीं, उसका अस्तित्त्व ही नहीं हैं। तो जो भी हैं वे सब सत् हैं। सत्त्वस्वरूप का परित्याग करके कोई रह ही नहीं सकता, इस कारण सारा विश्व एक है।

सदेकरूप विश्व का द्रव्यक्षेत्रकाल भाव की मुख्यता से परिचय—अब सत्त्व की दृष्टि से निहारे गए एकरूप विश्व में जब भेददृष्टि करेंगे तो भेददृष्टि करने का तरीका है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। किसी भी अभिन्न पदार्थ का भेद करना है विश्लेषण के साथ उसका विवरण करना है तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन अपेक्षावों की सहायता ली जाती है। जितने भी दर्शन प्रचलित हैं, जो भी मत निकले हैं वे सबके सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों में से किसी से सम्बंध रखते हैं और उनका योग्य केन्द्रीकरण न होने से वे एकान्त में आ गए। किसी भी दर्शन के सम्बंध में आप विचार करेंगे तो इन चारों में से किसी से सम्बंध मिलेगा। इन चारों के ही एकान्त से अनेक दर्शन उत्पन्न हुए हैं। तो जब एक अस्तित्त्व करके हमने सारे विश्व को एकरूप निरखा, अब उसका जब हम भेद करने चले तो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से भेद होंगे।

सदेकरूप विश्व के परिचय में आम स्थापना का प्रयोग—साथ ही आप यह भी जानें कि नाम और स्थापना के बिना तो जरा भी कदम नहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चल सकते । किसी भी पदार्थ का स्पष्टीकरण करने के लिए नाम पहिले रखना होता है । नाम के बिना तो कुछ व्यवहार नहीं चल सकता है । और, जब नाम रखा तो नाम रखने के बाद यह बुद्धि आनी भी आवश्यक है कि देखो— जिस नाम से बोला गया ना उस नाम का वाच्य यह पदार्थ है । इस ही का नाम स्थापना है । वैसे एक सीधे ढंग से यह कह दिया जाता कि आकारवान पदार्थ में स्थापना करना साकार स्थापना है और आकाररहित पदार्थ में अन्य की स्थापना करना निराकार स्थापना है । लेकिन परकी परमें स्थापना करना यह तो उपचरित व्यवहार है, जो वास्तविक अधिगम से सम्बंध नहीं रखता जो वस्तु में धर्म प्राप्त हो उसका वर्णन करनेवाला फिर यह स्थापना निक्षेप न रहा । वह स्थापनानिक्षेप क्या है कि कुछ भी व्यवहार करने में स्थापना को कहना ही पड़ेगा । यह तो अपने मन की बात है । हम कभी प्रतिमा में यह पार्श्वनाथ हैं ऐसा ज्ञान करते हैं कभी नहीं भी करते हैं यह तो इच्छा की बात है । कभी निराकार गोटों में ऊंट, घोड़ा आदिक की स्थापना करते हैं कभी नहीं भी करते हैं । तो व्यवहार में नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ये चार निक्षेप आने ही पड़ते हैं । वहां मनमौज की बात नहीं है कि हम किसी पदार्थ को समझायें या विवरण सहित जानें और वहां हमें स्थापना का सहारा लेना हो लें, न लेना हो न लें, किन्तु जो भी व्यवहार किया जायगा वह नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव इन निक्षेपों से ही हो सकेगा । तब खोजिये अब यह स्थापना-स्थापना न रही कि किसी पदार्थ में किसी अन्य की बात रख देना । हम जब भी आंख खोलकर कुछ देखते हैं और उस देखनेके साथ ही अथवा तुरन्त ही जो हमें ज्ञान होता है उस ज्ञान के होने में नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ये चारों के चारों निक्षेप प्रयोग में आ जाते हैं । भले ही हम चिरन्तन अभ्यास के कारण उसमें ऐसा भान नहीं करते लेकिन आ जाते हैं चारों । जो भी भान हुआ उस भानके साथ किसी न किसी शब्द के रूप में, किसी न किसी नाम के रूप में, चाहे वह बहिर्गत नाम बने चाहे अन्तर्वृत्ति नाम बने, नाम का भान तुरन्त

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होता है और साथ ही "यह है वह" यों स्थापना होती है। यहाँ अन्य चीजों की स्थापना की बात नहीं कह रहे किन्तु जो पहिले विकल्प रूप से जाना, नामरूप से जाना उसके साथ ही साथ यह भी बोध रहता है कि इस नाम के द्वारा यह है वाच्य और फिर उसकी ध्रुवता का और उसकी वर्तमान पर्याय का, इनका भी बोध साथ में रहता है। तो हमारा व्यवहार और व्यावहारिक ज्ञान इन चार निक्षेपोंरूप है।

सदेकरूप विश्व के अधिगम में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मुख्यता की दृष्टि का प्रभाव—इस 'है" के रूप से जाने गए सारे विश्व को हम ६ दृष्टियों में से पृथक्-पृथक् एक-एक दृष्टि की मुख्यता से जब हम कुछ विशेष जानना चाहेंगे तो हमें ६ जाति के द्रव्य नजर आयेंगे। यद्यपि एक सत् में इन ६ दृष्टियों से ६ द्रव्य नहीं निकले लेकिन बोध हम इन्हीं दृष्टियों मे बनायें तो बना सकते हैं। एक समझने की बात है। यह सारा विश्व एक सत् है। जब हम इसको नामदृष्टि से देखें तो नाम का काम है चलाना। नाम बिना कुछ नहीं चल सकता। किसी बच्चे का नाम न रखें तो कुछ भी बात न कर सकेंगे, उसे बुलावो, उसे लावो, क्या कहेंगे ? बिना नाम के व्यवहार क्या है ? तो नाम चलाने के काम आया करता है। और, लोग तो कोई-कोई इतने बेसरम भी हो जाते हैं कि अपने आप कहते हैं कि मेरा नाम चले। मेरा नाम कैसे चलेगा ऐसा लोग बोल भी देते हैं। तो नाम चलने की बात से सम्बंध रखता है। तो अब आप यह देखिये कि सारे लोक में जो कि समस्त पदार्थ एक सत् की दृष्टि से परख लिए गए हैं, उस नाम की मुख्य दृष्टि से कौनसा द्रव्य ध्यान में आया ? धर्मद्रव्य जीव पुद्गल की गति में, चलाने में सहायक है। और, नाम का भी काम चलाने का है। और, अब स्थापना दृष्टि से ध्यान में आया अधर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य जीव पुद्गल को स्थापित करा देता है, अर्थात् चलते हुए जीव पुद्गल के ठहरने में सहायक है। तो जब हमने एक दृष्टि में परखेगए विश्व को स्थापना की दृष्टि से परखा तो अधर्म-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

द्रव्य विदित हुआ। अब द्रव्य दृष्टि से देखें अर्थात् पिण्ड दृष्टि से देखें। लोग पिण्डात्मक द्रव्य कहा करते हैं, जैसे—चौकी, बेन्च, भींट आदि का तो उस अवकाश से हमें पुद्गल ध्यान में आया क्योंकि पुद्गल ही अवयवी बन पाते हैं। क्षेत्रदृष्टि से आकाश ध्यान में आया, कालदृष्टि से काल और भावदृष्टि से यह मैं जीवतत्त्व समझ में आया। इस कथन में केवल इतना ही प्रयोजन लेना है कि सद्भूत पदार्थों में से जब हम भावदृष्टि की प्रधानता रखके देख पायेंगे तो हम जीव को देख पायेंगे। इस जीव को कुछ पिण्डदृष्टि आकारदृष्टि की प्रधानता से न समझ पायेंगे कि मैं हूं। इसे हम किसी वर्तमान परिणति से न समझ पायेंगे कि मैं क्या हूं। इसी तरह आकारदृष्टि से मैं कितना लम्बा-चौड़ा हूं, ऐसा ध्यान में लाकर हम अपने को न समझ पायेंगे कि मैं क्या हूं किन्तु भावदृष्टि से ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक असाधारण भाव और उनमें भी मैं अभेदरूप से चित्स्वभाव हूं। यों केवल चिद्भाव की दृष्टि से जब हम निरखते चलेंगे अपने आपमें तो समझ पायेंगे कि मैं हूं। ऐसा यह मैं साधारण गुणरूप भी हूं और असाधारण गुणरूप भी हूं।

"हूं" की उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता—मैं हूं इसका वर्णन चल रहा है। मैं हूं तो नियम से उत्पादव्ययध्रौव्य वाला हूं। है में स्वरूप पदार्थ सत्ता से अनुस्यूत होता है अर्थात् तन्मात्र होता है और सत्‌उत्पादव्ययध्रौव्य से युक्त होता है। सत् का लक्षण एक उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। है कुछ तो नियम से वह कुछ बनेगा, बिगड़ेगा और बना रहेगा। जिनको इस बातपर विश्वास नहीं वे जीव घबड़ाते हैं, हाय! मैं नष्ट हो जाऊंगा। अरे मैं जीव हूं। जीव कभी नष्ट नहीं होता। कुछ लोग ऐसा ज्ञानकर पाये कि मैं नष्ट नहीं होता, यहां से मरकर अन्य भव में जाऊंगा तिसपर भी इस बात से घबड़ाते हैं कि मैं न जाने क्या बनूंगा। न जाने कौनसी गति में जाऊंगा? न जाने कैसा शरीर पाऊंगा। यह भी घबराहट, मैं यथार्थ में क्या हूं, इसके ज्ञान बिना हो रही है। जैसे मैं नष्ट हो जाऊंगा यह घबड़ाहट अपने आपके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ध्रौव्यत्व के ज्ञान बिना होती है, तो मैं किसी कुगति में जाऊंगा, कहां जन्म लूंगा, यह घबड़ाहट भी आत्मा के सहजस्वरूप के ज्ञान बिना हो रही है। यदि आत्मा के सहज स्वरूप का परिचय रहे तो परिचय के मायने तो यह हैं कि वही-वही दीखा करे। उस ही रूप अपनी प्रतीति बनाये रहें। तो जो पुरुष मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानातिरिक्त अन्य कुछ नहीं हूं ऐसा विश्वास रखता है उसका उपयोग निर्मल होने के कारण उसको शंका ही नहीं है कि मेरा क्या भव होगा? साथ ही जब उसने अपने सहज स्वभाव को जाना और वह है स्वभाव भवरहित। उस ज्ञानस्वभाव में नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव भव पड़े हुए हैं। क्या? अरे स्वभाव में तो विकल्प, विचार, वितर्क भी नहीं पड़े हुए हैं। तो ऐसे भवरहित स्वभाव की प्रतीति करने वाला हो कोई और मेरा भव कैसा होगा? इस प्रकार की घबड़ाहट बने, यह बात सम्भव नहीं। अगर है घबड़ाहट तो उसके अभी श्रद्धा में कमी है। भवरहित केवल चिन्मात्र मैं आत्मा हूं, इस प्रतीति में जब कमजोरी है तब घबड़ाहट हुआ करती है। मैं हूं, इस कारण उत्पादव्यय ध्रौव्य रूप हूं।

"हूं" का उत्पादधर्म—उत्पाद मिटाये नहीं मेटा जा सकता। मुझ में नवीन अवस्था निरन्तर आती ही रहेगी, उसे मिटाया नहीं जा सकता। लेकिन वह उत्पाद मेरा क्या है? जब अपने स्वरूपपर दृष्टि की तो उसे यह ध्यान में आया कि वह उत्पाद तो मेरे अस्तित्त्व का सहयोगी है। वह मेरा बुरा कैसे कर सकता है? वस्तु का धर्म वस्तु की बरबादी के लिए नहीं होता। कोई दूसरे पदार्थ का संयोग और दूसरे पदार्थ के निमित्त से होने वाले भाव ये तो वस्तु के बिगाड़ में कारण होते हैं, किन्तु पदार्थ का स्वयं का कोई सा भी निजी धर्म उस वस्तु की बरबादी का कारण नहीं बनता। उत्पाद यह तो मुझ वस्तु का स्वभाव है। प्रतिक्षण अनन्त अवस्थायें होती रहें, उस उत्पाद से मेरा बिगाड़ नहीं है। मेरा क्या उत्पाद है। वह है जिससे मेरा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनन्तकाल तक बिगाड़ नहीं हो सकता। जो परके सम्बंध से हुआ हो ऐसा जो कुछ भी उत्पाद है वह मेरा धर्म नहीं, वह मेरा स्वरूप नहीं। जो मेरा धर्म है वह मेरे अस्तित्व का सहयोगी है, विरोधी नहीं। जैसे कहते हैं आगम में षडगुण हानिवृद्धि रूप परिणमन, अर्थ परिणमन। वस्तु के अस्तित्व के कारण वस्तु में अस्तित्व बनाये रखने के लिए जो निरन्तर वस्तु का सहज व्यक्तरूप चलता है वही है वस्तु का वास्तविक उत्पादधर्म।

"हूं" का व्ययधर्म—जब उत्पाद मेरे विनाश के लिए नहीं हुआ तो मेरा व्यय भी मेरे बिगाड़ के लिए न होगा। व्यय के मायने विनाश। विलीन होना। यह भी तो वस्तु का धर्म है। उत्पाद व्ययध्रौव्य से युक्त वस्तु हुआ करती है। मैं निरन्तर नया-नया बनता हूं और अपने में निरन्तर पूर्व-पूर्व रूप से नष्ट होता हूं, लेकिन यह विलय मेरा विनाश न करेगा। यह व्ययधर्म मेरा विनाश नहीं कर सकता। मेरा अस्तित्व नहीं खो सकता। क्योंकि व्यय भी मेरा धर्म है, वस्तु का धर्म है। तो वह व्यय किस रूप से होता है? जो मेरा व्यय करने अर्थात् विनाश करने में समर्थ नहीं है, व्यय होकर भी व्यय नहीं कर सकता है ऐसा वह व्ययरूपधर्म क्या है? वस्तु है, वह अपना व्यक्तरूप रखती है और उस व्यक्तरूप में ही पूर्व पर्याय में व्यक्तरूप के लिए अपना समर्पण कर देती है अपना अस्तित्व विलीन कर देती है, सो वस्तु का सत्व बनाये रखने के लिए यह पूर्व पर्याय का बलिदान है न कि वस्तु को मिटाने के लिए। यों वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होती है।

आत्मतत्त्व की उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता—मैं हूं, क्या हूं, ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न होते ही असाधारण गुण का प्रकाश आ ही जाता है। मैं चेतन हूं, मैं चेतता रहता हूं, जानता रहता हूं और जानते रहने की संतति में मैं प्रतिक्षण की जानन स्थिति को व्यापकर वर्तमान स्थिति के जाननरूप परिणमता रहता हूं। ऐसा ही तो भगवान करते हैं। भगवान में और प्रभुता क्या है? इतनी शुद्ध परिणति है प्रभु की कि उनका वह जानना निरन्तर चल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रहा है। यों निरन्तर उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप मैं आत्मतत्त्व हूं। देखिये— उत्पादव्ययध्रौव्यता माने बिना किसी का गुजारा नहीं चल सकता। कोई भी दार्शनिक हो सबको उत्पादव्ययध्रौव्य मानना ही पड़ा मगर बिखरा हुआ माना गया। किसी की कल्पना में है कि सारा विश्व एक ईश्वर ने किया और वह इतने कल्पकाल बाद प्रलय करेगा और प्रलय के कुछ समय बाद फिर उत्पन्न करेगा और ईश्वर वह तो बराबर ही रहा आयगा, नहीं तो आगे की सृष्टि बने कैसे? लोग किसी न किसी रूप में उत्पादव्ययध्रौव्यता मानते हैं, लेकिन जब उसके आवान्तर प्रसंग में प्रश्न होता है कि यह तो हम रोज देखते हैं कि वस्तु बिगड़ती है, बनती है, बनी रहती है। आप तो कल्पकाल की बात कहते। तो मानना पड़ा फिर कि तीन देवता सदा रहते हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश। और इनमें ब्रह्मा का काम है पैदा करना, विष्णु का काम है बनाये रहना, महेश का काम है नष्ट कर देना। ठीक है लेकिन जब मेरे आवान्तर में यह प्रश्न होगा कि हम तो देखते हैं वस्तु में एक ही समय में उत्पाद है, व्यय है, ध्रौव्य है तब इसका समाधान किसी भिन्नकर्ता पर दृष्टि रखकर नहीं बन सकता। तो मानना ही पड़ेगा कि प्रत्येक वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप है। यही सत्त्व का लक्षण है। ऐसा मैं हूं।

आत्मा की अहेतुकता व सनातनता—अपने आत्मा के अस्तित्व के सम्बंध में चर्चा चल रही है कि मैं हूं, अपने स्वरूप से हूं, परके स्वरूप से नहीं हूं, सदा परिणमता रहता हूं, अपने में परिणमता हूं, परमें नहीं परिणमता। किसी न किसी आकार को लिए हुए हूं और ज्ञान के द्वारा ज्ञेय हूं। ऐसा साधारणतया अस्तित्ववान होकर भी असाधारण गुण से शून्य नहीं हूं। चेतना गुणात्मक हूं और एक ही समय उत्पादव्ययध्रौव्य से युक्त हूं। ऐसा हूं। ऐसा यह मैं चैतन्य आत्मतत्त्व किस कारण से हूं। मुझे किसने बनाया है, इस सम्बंध में अब विचार करें। मैं किसी कारण से नहीं हूं। मुझे कोई उत्पन्न करता हो ऐसा नहीं है। लोकव्यवहार में इसके बारे लोग कहा करते

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हैं कि मैं उत्पन्न हुआ हूं। मैं मातापिता से उत्पन्न हुआ हूं, यह सब एक व्यामोहभरी बात है। देह के नाते से ऐसा कहा जाता है। मैं अमूर्त चेतन आत्मा किसके द्वारा पैदा किया जा सकता हूं? और, अमूर्त चैतन्य की ही बात क्या, जो भी मूर्त अचेतन हैं वे भी किसी के द्वारा पैदा नहीं किए जा सकते। जितने जगत में अणु हैं अनादि से हैं, अनन्तकाल तक रहेंगे, न एक कम होगा और न एक अधिक होगा। हैं अनन्तानन्त, किन्तु जो असत् है वह सत् कैसे बनेगा? जो सत् है उसका मूलोपहार कैसे होगा? तो कोई भी पदार्थ किसी कारण से बना नहीं, और जब अहेतुक हैं सभी पदार्थ तो उनकी सत्ता अनादि से है। किसी सम्बंध से आत्मा का अस्तित्त्व हुआ हो ऐसी बात नहीं है। आत्मा कब से है? उसके लिए यदि कोई दिन और समय कल्पना में नियत किया जाय तो यह प्रश्न होगा कि इससे पहिले क्या था? और, मैं न था। कुछ भी न था तो हो कैसे गया? किसी भी कार्य की उत्पत्ति बिना उत्पादन के नहीं है। यह मैं उपादानभूप चेतन अनादि से हूं और अनन्तकाल तक रहूंगा।

अहेतुकता व सनातनता होने के कारण आत्मा का अन्य पदार्थों पर अस्वामित्व—मैं जब अनादि से हूं, अनन्तकाल तक रहूंगा, तब जिस किसी भी समय इन पदार्थों का संयोग हो जाता है वे पदार्थ इसके कुछ नहीं हैं और वे केवल एक अशान्ति के ही आश्रयभूत होते हैं। आत्मा स्वयं शान्त है, यदि यह अपने आपमें ही रहे। बाहर अपनी दृष्टि न करे तो इसकी अशान्ति का कोई प्रसंग नहीं। मगर अनादिकाल से एकदम बाहर ही बाहर इसकी दृष्टि है, इस कारण से इसको न अपना पता है न बाहर से हटने में अपना कल्याण समझता है। मैं हूं और अहेतुक हूं। किसी कारण से हुआ नहीं। अनादि से हूं, अनन्तकाल तक रहता हूं। यह चर्चा चल रही है एक अमूर्त केवल चित्प्रतिभासमात्र की। देह की या उन विकल्पों की जिन विकल्पों में आत्मस्वरूप की श्रद्धा की गई है, इन किसी की भी चर्चा न करके केवल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शाश्वत् एक चित्स्वभाव की बात कही जा रही है। मैं वह अनादि अनंत अहेतुक हूं।

"हूं" का प्रयोजन—अच्छा, अब हूं का प्रयोजन सोचिये, किसलिए हूं मैं ? कोई पदार्थ होता है तो उसका कुछ न कुछ प्रयोजन रहा करता है। तो मेरे अस्तित्त्व का प्रयोजन क्या है ? किसलिए हूं ? देखो ना, यह तखत है तो बैठने के लिए है, बेन्च है तो पुस्तक रखने के लिए है। मैं किसलिए हूं ? मैं किसलिए हूं, इसका उत्तर पाने के लिए पहिले इन तखत बेन्चों का ही निर्णय कर लीजिये कि ये तखत बेन्च आदिक किसलिए हैं। लोग कहते हैं कि तखत बैठने के लिए है, लोटने के लिए है। अर्थात् इसका अस्तित्त्व इस प्रयोजन के लिए है। तो ऐसा कहना गलत है। तखत बैठने लोटने आदिक के लिए नहीं है। कोई बैठले तो यह उस बैठने वाले की क्रिया है, उसकी जबरदस्ती है, पर तखत बैठने के लिए नहीं है। इसका अस्तित्त्व तो केवल अपना सत्व बनाये रखने के लिए है। उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक रूप से निरन्तर रह रहा है। इसका प्रयोजन केवल यह रहे, इसका अस्तित्व न मिटे इसके लिए है, इसके आगे इन वस्तुवों का कोई प्रयोजन नहीं है। जैसे कभी कोई कहता है ना कि बेकार चीज थी और देखो—इसने किस तरह से इसका उपयोग कर लिया। तो इसी तरह यह मानलो कि जगत के समस्त पदार्थ बेकार चीज हैं एक दूसरे के लिए। पर यह चेतन चूंकि प्रभु है, बुद्धिमान है और यह इनका उपयोग करता, उपभोग करता, लेकिन ये सब हैं बेकार। इन पदार्थों का अस्तित्व मेरे उपभोग के लिए नहीं, मेरे आराम के लिए नहीं, किन्तु इनका अस्तित्व इनके ही लिए है। यदि ये पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक रूप से न रहते होते तो इनका अस्तित्व ही न था। सभी पदार्थों का प्रयोजन केवल अपना सत्व बनाये रखना है। ये अचेतन जानते नहीं हैं, ऐसी इनमें प्रयोजन की बात कहने से कुछ जरा बेतुका मामला लगता है, लेकिन ये न जानें, न सही, किन्तु ये हैं तो किसलिए हैं ? यह प्रश्न व्यर्थ का नहीं है। सभी पदार्थ अपना अस्तित्व

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बनाये रहने के लिए हैं, इसी प्रकार मैं हूं तो माना है। इसके लिए ही हूं, इसके आगे मेरा कोई प्रयोजन नहीं।

"हूं" का अधिक प्रयोजन मानने से क्लेशापन्नता—जब "हूं" इससे अधिक मेरा कोई प्रयोजन नहीं और मानते हैं प्रयोजन, बस इसीलिए तो दुःख आता है अजी मैं लोक में ऐसे ठाठ से रहने के लिए हूं, इतना धन संचय करने के लिए हूं, मैं इस तरह की इज्जत पाने के लिए हूं। जहां और, और प्रयोजन बना रखे हों बस वही क्लेश है, और जब वस्तुगतस्वरूप यह समझ में आता है कि मैं हूं तो "हूं" इसके लिए हूं। इसके आगे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। देखलो—तभी जो बात सच है वह तथ्य की बात सामने आती है। सब छूट जाता है, रह जाता है वही अकेला, तो क्योंकि इसका प्रयोजन भी इतना ही था। वह कहीं नहीं मिटता और बाकी जो गैर-गैर प्रयोजन मान रखा वे तो मिटेंगे। जैसे कोई जबरदस्ती दूसरे की सम्पदा को अपनी समझकर और यह अपने में निर्णय बनालें कि बस यही तो मेरी सम्पदा है और इसके लिए ही मैं हूं तो उसे सिवाय क्लेश के और क्या मिलता है? तो इसी तरह जो मेरे प्रयोजन में बात ही नहीं है उन उनको हम अपना प्रयोजन मानें तो उसमें क्लेश के सिवाय और क्या बात है? मैं हूं और अपने अस्तित्व के लिए ही हूं। निरन्तर उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक बना रहूं बस इसके लिए हूं। जब मोहबुद्धि होती है तब बाहर में संकोच होता है। लिहाज, भय आदिक ये सारी बातें आने लगती हैं। यद्यपि यह बात गृहस्थावस्था में कुछ दर्जे तक ठीक बतायी गई है, लेकिन साधुजनों की वृत्ति देखो तो उन्हें संकोच, लिहाज, शर्म, भय, शंका आदिक किसी का भी स्थान नहीं है। उनकी तो एक अलौकिक वृत्ति होती है। जैसी वृत्ति गृहस्थजनों की होती है उससे उल्टी वृत्ति साधुजनों की होती है। उनमें ऐसी वृत्ति होने का कारण है आत्मस्वरूप का यथार्थ परिज्ञान।

अस्तित्त्व का प्रयोजन उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत्त्व बनाये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रखना—किसी को भी यदि आत्मस्वरूप का यथार्थ परिज्ञान हो जाय तो फिर सारी समस्याओं का समाधान पाना उसके लिए अत्यन्त सुगम हो जाता है। बस मैं हूं, हूं, बने रहने के लिए हूं, इसके आगे और कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि अपने स्वरूप में यह अकेला है, अपने आपमें यह केवलमात्र है। इसमें दूसरे का कोई सम्बंध नहीं। दूसरे का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हम में आता नहीं। तो जब केवलमात्र यही है तो इसका काम क्या रह गया? सिवाय यहां के अपने स्वरूप में नवीन परिणति उत्पन्न करे, पुरानी परिणति विलीन करे और ऐसा ही यह करता रहे। सिवाय इसके और इसका काम क्या रह गया? अन्दर में सोच लीजिए। अब ज्ञान से उपयोग से हम अन्य-अन्य अनेक बातें लपेटते रहते हैं तो यह तो हमारा व्यामोह है। स्वरूप से चिगने की हालत में ये सब कल्पनायें और विडम्बनायें हैं। मैं हूं और अपने हूं के लिए ही हूं, इसके आगे मेरा प्रयोजन नहीं।

आत्मा के स्वामित्व का विचार—यह मैं किसका हूं? इसका उत्तर जानने के लिए पहिले बाहर में भी सभी जगह यह निरख डालें कि कोई भी किसी अन्य का हुआ करता है क्या? पुद्गलों में, इन स्कंधों में देखलो—जैसे भींटपर गाडर रखा है तो लोग कहते हैं कि इस भींट का गाटर अच्छा है, तो वह गाटर भींट का है क्या? अरे गाडर का अस्तित्व गाटर में है, भींट का अस्तित्व भींट में है, पर केवल बाहरी सम्बंध है, वह भी वस्तुगत् नहीं। अव्याप्यवृत्ति, बिना एक दूसरे में व्यापकर वहीं समीप रहना इतनी मात्र ही तो बात है। तो यह भी बात किसी की नहीं है। किसका है वह संयोग? गाटर का संयोग है क्या? नहीं, भींट का संयोग है क्या? नहीं, क्या दो का संयोग है? नहीं, दो की तो कोई एक चीज होती ही नहीं। तो अब वस्तुगत दृष्टि से देख रहे हैं, भींट की गाटर नहीं है, क्योंकि भींट का गाटर में प्रवेश नहीं है। कोई कहे कि संयोग है, तो क्या भींट का संयोग है? भींट को खूब निरख डालो—कहीं संयोग न

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नजर आयगा। तो क्या गाटर का संयोग है ? गाटर में अणु अणु में खूब निरख डालो—वहां संयोग न मिलेगा। और, दो की मिलकर एक चीज कभी होती नहीं। भले ही यह लोग कहते हैं कि हम दो भाइयों की मिलकर यह सम्पत्ति है, यह चीज तो हम दो जनों की है। तो ठीक है, यह व्यवहार है, यह काल्पनिक है, पर कोई सी भी चीज क्या दो की हो सकती है ? नहीं हो सकती। और, जिस चीज को दो की कहते हैं वह किसी की भी नहीं है। तो बाहर में भी निरख डालो कि कोई अणु किसी दूसरे अणु का नहीं है। भले ही दुनिया में ये सब पदार्थ हैं, कुछ बुद्धि द्वारा, उपाय द्वारा करके इकट्ठे हुए हैं तो कुछ अनाप-सनाप अटपट ही हुए हैं। हो जायें इकट्ठे अथवा अनेक अणुवों का मिलकर बन जाय पिण्ड लेकिन वहां कोई सत् किसी अन्य सत् का नहीं है। तब एक यह आम कानून बन गया कि कोई भी सत् किसी दूसरे का नहीं है, गुंजाइस ही नहीं है। तब अस्तित्व सबका पृथक् है। और, सभी पदार्थ अपने ही प्रदेश में, अपने ही गुणों में उत्पादव्ययध्रौव्यरूप से रहते हैं, तब किसी का कोई बन ही कैसे जायगा ?

परका स्वामी मानने का परिणाम—भैया ! है नहीं किसी का कुछ, फिर भी मानना कि मेरा यह कुछ है, बस यही संसार में जन्म-मरण करने का और इतने भवों में, देहों में, दुर्गतियों में बने रहने का, फंसे रहने का यही कारण होता है। जैसे जिस किसी भी झगड़े को कहते हैं—बात तो कुछ भी नहीं और बिना काम का झगड़ा बन गया, योंही यहां देखिये ना, यह झगड़ा क्या कम बन रहा कि यह मैं जीव निगोद में, प्रत्येक स्थावर में, कीड़ा-मकोड़ा में, देव, नारकी, पशु-पक्षी आदिक अनेक प्रकार के देहों में फंसता हूं, बंधता हूं, जन्ममरण करता हूं, दुःखी होता हूं। यह झगड़ा कितना बड़ा बन गया। और, बात है कुछ भी नहीं, झगड़ा बताने के लिए, कुछ समझाने के लिए कि किस बात पर यह झगड़ा है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्द के स्वभाव वाला यह प्रभु जो इतनी गर्त अवस्था में दुःख भोग

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रहा है, यह किस बात पर भोग रहा है, असली चीज क्या है ? लोग तो अंदाज लगाते कि यदि कोई बड़ा आदमी बिगड़ रहा है तो कोई बात होगी। तो यहां इतना बड़ा पुरुष जो प्रभु की तरह अनन्त ज्ञानादिक स्वभाव वाला है और वह जो इन दुर्गतियों में, भवों में जन्ममरण करता फिर रहा है तो कुछ बात तो होगी। बात कुछ नहीं। हां बात की बात है। चीज की बात कुछ नहीं है।

बात के झगड़े का बतंगड़—देखिये बात के झगड़े चीज के झगड़े से भी बड़ा रूप रख लेते हैं। तो इतना जो बड़ा झगड़ा बन गया है वह झगड़ा बात का झगड़ा है। वह बात क्या ? यही कि मैं तो किसी का हूं नहीं और ये मेरे कुछ हैं नहीं और मानते यह हैं कि मेरा अमुक है, मैं इसका हूं, इतनी एक कल्पनाभर करी, किसी वस्तु का बिगाड़ नहीं किया, किसी वस्तु को तोड़ा फोड़ा नहीं, केवल एक अपने आशय में भाव बनाया यदि आशय में यह भाव न बनाते और इन चीजों को तोड़ते-फोड़ते भी रहते तो इतना झगड़ा न था लेकिन आशय में जो ये मिथ्या कल्पनायें मन में आयीं, उपयोग में आयीं, इनसे इतना बिगाड़ हुआ कि देखो—यह शरीरों का भार ढोते फिर रहे हैं। हाड़, मांस, चमड़ी, मल, मूत्रादिक अपवित्रतायें आगयीं, यह गलता है, सड़ता है, जन्मता है, मरता है, कितनी तोड़फोड़ हो रही है। ये सब बातें हो क्यों रही हैं ? बस एक इतना आशय करके मानने कि मेरा कुछ है और इसका मैं हूं।

स्वरूपदृष्टि में अन्य की बाधकता का अभाव—स्वरूपदृष्टि कर लेने वाला पुरुष, अपने आपके सहज स्वरूप का अनुभवी पुरुष कभी भी यह विश्वास नहीं रखता कि मैं किसी अन्य का हूं या अन्य कोई मेरे हैं। मैं हूं स्वतंत्र हूं, हूं और परिणमता हूं। इससे आगे मेरा कुछ काम नहीं। इससे आगे मेरा कोई सम्बंध नहीं। जब कभी सम्बंध भी मान रहे हैं, उस मानने की स्थिति में भी न मेरा कुछ है न किसी का मैं हूं। ऐसा सबसे निराला

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अपने साधारण और असाधारण गुणों रूप मैं आत्मा हूं। अनुभव करके किसी क्षण यह तो परख लीजिये पूरा उत्साह करके: श्रम करके, प्रयत्न करके कि मैं वास्तव में हूं क्या ? इस हूं की समझ में बाधा डालने वाला कोई दूसरा नहीं है। जैसे कि कोई समझे कि भाई मेरी स्त्री उल्टी-उल्टी चलती है, मेरा पति यों ही अटपट चलता है, मुझे चैन नहीं है, मेरा लड़का या मेरा पिता बिल्कुल मुझसे फिरन्ट है, ये लोग मुझपर रोब जमाते हैं। मैं क्या करूं ? कैसे मुझे शान्ति मिले ? अरे कोई कितना ही दबा रहा हो, कहां दबा रहा ? वह तो सिर्फ बात कर रहा, अपने में अपनी चेष्टा कर रहा, मैं अपने आपमें स्वयं में एक दृढ़ बनकर अपने में दृष्टि करु तो इसमें बाधा देने वाला कौन ?

आत्मा की अन्तः स्वन्त्रता—भले ही कोई प्रबंधक या कोई सिपाही इसे कैद करके लेजाय, जेल की कोठरी में इसे बन्द करदे, पर यह तो बतलावो कि वह आत्मा बन्द है क्या ? ज्ञानी पुरुष है, और वहीं अपने आपमें अपने स्वरूप की दृष्टि कर रहा, अनुभूति कर रहा, अपने स्वरूप दर्शन का आनन्द ले रहा तो इस आनन्द को भी कोई कैद कर सकेगा क्या ? वह तो वहां बन्धन में नहीं है। घर के लोग, परिजन लोग किसी तरह कितना ही दबाव करें, कुछ करें, अथवा राग करें, स्नेह करें फिर भी मैं अपनी कल्पना के दबाव से ही दबता हूं। विरोध और द्वेष के दबाव से राग का दबाव और खराब है। जैसे—किसी पुरुष को दबाकर, डाटडपटकर जो काम नहीं करा सकते वह काम स्नेह दिखाकर, प्रशंसा करके आप करालें। तो क्या राग का दबाव द्वेष के दबाव से कम है, लेकिन दबाव किसी पर किसी का नहीं है। वस्तुतः कोई अपने आपको अपनी दृष्टि में रखे, समझे, जरासा ही तो काम है, भीतर ही रहने वाला यह मैं भीतर ही भीतर अपने को निरखने लगूं, इसमें कोई विशेष श्रम तो नहीं है, पर रुचि हो इस तरह, यह ज्ञान रखा हो कि जगत में जितनी भी सम्पदा, जितने भी समागम हैं वे सब असार हैं, इतना भी दृढ़ श्रद्धान हो तो इसको आत्महित का मार्ग प्राप्त होना सुलभ हो जाता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। तो यह मैं हूं, अनादि से हूं, अनन्तकाल तक हूं, किसी का नहीं हूं, अपने ही हूं के लिए हूं, और किसी भी अन्य पदार्थ का नहीं हूं।

आत्मस्वरूप को यथार्थ जानने की अत्यावश्यक्ता—आत्मस्वरूप के जाने बिना इस जीव को कभी भी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती, कारण यह है कि अपने आपको छोड़कर किसी भी बाह्य पदार्थ में उपयोग लगाया तो प्रथम तो इस उपयोग का बाह्य पदार्थों के साथ मेल नहीं खाता, क्योंकि भिन्न द्रव्यपना है। दूसरी बात यह है कि वह आश्रयभूत पदार्थ नष्ट हो जायगा। तब यह उपयोग अनाश्रित होकर या अपने आपही आशक्ति से अनाश्रित होकर फिर किसी बाह्य पदार्थ की खोज में लगेगा तो यों कभी भी इन बाह्य पदार्थों में इस जीव को शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। हम आप सबको यदि वास्तव में शान्त सुखी होना है तो नियम से अपने आपके स्वरूप में मग्न होना ही होगा, यह अपना पक्का निर्णय बनालें। इस भव में, जिसे कहेंगे सम्यक्त्वी यदि सम्यक्त्वी नहीं हो पाता तो फिर इस जीव का कुछ ठिकाना न रहेगा। आज तो मनुष्यभव पाया है। अच्छा समागम मिला है। अन्य भवों में यह फिर क्या उपाय बनायेगा सुखी होने का? अतएव आत्मस्वरूप का ज्ञान कर लेना अत्यन्त आवश्यक है, यह उतना अधिक आवश्यक है जितना आवश्यक भोजन और घर नहीं है। एक भव में यदि घर का ठिकाना न मिला और कहीं जाड़ा, गर्मी, बरसात आदि में स्वतन्त्रता से टिक न सके तो कुछ हर्ज नहीं, किसी भी जगह रह लिया, कोई बात नहीं, पर यह भव सदा तो नहीं रहने का। जिस किसी भी प्रकार गुजारा कर लिया जायगा, लेकिन आत्मा को आत्मा का ठौर न मिलेगा। तो यह अनन्तकाल तक बेघर का रहकर भटकता रहेगा।

शान्तिलाभ के लिये धर्म और धर्माधार के आश्रय की प्रमुखता देने का कर्तव्य—जिस तत्त्व की ओर प्राय: मनुष्य की रुचि और दृष्टि नहीं है और जिसको एक फाल्तू काम समझते हैं कि जो एक कुल पर-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

म्परा में चला आया है—मंदिर जावो, पूजापाठ स्वाध्याय आदि करो, इनके करने से समाज में मान बड़ाई मिलती है, यों ही समझकर अगर हां समय मिला तो उतने समय यह भी कर लिया जायगा। यह इस तरह की बात नहीं है। जीवन का समय सबसे पहिले रत्नत्रयरूप धर्म की आराधना के लिए है और फिर समय बचता ही है, जो समय बचा उसमें फिर अपनी व्यवस्था बनालें। जैसे जीवन में जो मुख्य काम होता है उसके लिए आपका सारा रात-दिन है, लेकिन अन्य काम भी तो किया करते हैं। तो जैसे मुख्य काम के अतिरिक्त बचे हुए समय में अन्य छोटे-मोटे काम भी कर लिए जाते हैं यों ही इस आत्मा के सुखी शान्त होने के अर्थ मुख्य काम है आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, आत्मरमण। यदि ये मुख्य काम भी रहते तो अन्य कामों की तो आवश्यकता ही न थी, पर इस मुख्य काम में टिक भी नहीं सक रहे, कोई जरा भी नहीं टिक पाता तो उसके लिए अन्य काम खोजे जाते हैं। तो अपने जीवन में मुख्य काम समझना चाहिए धर्म। आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, आत्मरमण। यह अपनी ही तो बात हैं, अपने ही लिए करने की बात है। इसमें दूसरे की कुछ बात नहीं। जातिकुल, मजहब आदिक की कुछ बात नहीं। केवल अपने आपकी ही बात कह रहे हैं। आप कैसे सुखी रह सकते हैं ? एक वैज्ञानिक ढंग से प्रयोग कर करके इसका निर्णय बनालो। इसमें संतों ने कहा है, प्रभु ने कहा है कि ऐसा करो, इसलिए हम ऐसा करते हैं, यों रुढ़ि के वश न रहें, किन्तु यह निरखें कि प्रभु ने जो कहा है वह सच है ना। उसकी सत्यता अपने आपके प्रयोग में लाकर के निरखिये। देखो—जब ज्ञानोपयोग अपने आत्मा के उस ज्ञानानन्द स्वरूप पर आता है तब शान्ति मिलती है कि नहीं। जब यह उपयोग किन्हीं बाह्य पदार्थों में रमता है भ्रमता है तब इसको अशान्ति, आकुलतायें होती हैं कि नहीं ? परख करके श्रद्धान करलो। और, फिर जहां आपको शान्ति प्रतीत हो, वास्तविक ढंग से जहां निराकुलता का मार्ग मिलता हो उस मार्गपर आप चल दीजिए तो यह निर्विवाद सिद्ध होगा कि मुझे शान्ति

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मिल सकेगी तो अपने आपके आत्मा में समा जाने से मिल सकेगी।

स्याद्वाद से स्वकीय अस्तित्व का निर्णय—आत्मशान्ति के उपाय में सर्वप्रथम यह बात कह रहे कि अपने अस्तित्त्व का निर्णय तो करें कि मैं हूं। मैं का निषेध तो किया ही नहीं जा सकता। यदि कोई पुरुष कहे बड़े जोर से शब्दों द्वारा डटकर कि मेरे जीभ नहीं है तो क्या कोई सुनने वाला मान लेगा? जिससे कहा जा रहा है कि मेरे जीभ नहीं है वहीं तो जीभ है। इसी प्रकार कोई कहे कि मेरे आत्मा नहीं है, मैं आत्मा नहीं हूं, तो जो चिन्तन कर रहा, जो ऐसी समझ बना रहा कि मैं नहीं हूं वही तो आत्मा। मैं का निषेध कौन कर सके? तो सर्वप्रथम अपने आपमें यह निर्णय लेना है कि मैं हूं और, जब मैं हूं तो मैं मैं हूं, अन्य कुछ नहीं हूं। किसी भी पदार्थ का आप अस्तित्त्व तब समझ पायेंगे जब यह सामने बात होगी कि यह यह ही है, यह अन्य कुछ नहीं है। इस ज्ञान में यदि संशय है तो "यह है" यह भी आप न समझ सकेंगे। "यह है" इसमें यदि कुछ संशय है तो यह अन्य कुछ नहीं है यह बात भी आप निर्णय न कर सकेंगे। तो कुछ भी आप कहें, किसी भी वस्तु का सत्त्व बताइये तो उसकी हां के साथ ना भी लगा हुआ है, लेकिन हां और ना दोनों की दृष्टियां अलग-अलग हैं। यहां यह देखिये कि हम आप सबके काम में, व्यवहार में स्याद्वाद का कितना गहरा सम्बंध है। किसी भी मनुष्य को निरखकर जब जानते हैं कि यह फलाना पुरुष है तो उसके साथ ही क्या यह नहीं जानना होगा कि यह और अन्य कोई नहीं है? दोनों ही बातें उसके साथ ही साथ हैं। और, जब ये दोनों बातें उसके साथ हैं तो दोनों बातें जिसमें लगती है हां और ना, तो वे वास्तव में हैं क्या? एक शब्द में तो बताओ। तो कहना पड़ेगा कि अवक्तव्य। बस प्रत्येक पदार्थ की बात इन तीन दृष्टियों में गर्भित होती है। कुछ भी है तो वह है, अन्य नहीं है, फिर भी वास्तव में अवक्तव्य है।

अनुरूप प्रयोग से अपने अस्तित्त्व का दृढ़ निश्चय—यह मैं, मैं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हूं, अपने स्वरूप से हूं, यह बात चित्त में तब उतरती है जब किसी भी बाह्य पदार्थ का विकल्प न हो। बाह्य पदार्थ या बाह्य तत्त्वों के विपरीत श्रद्धा न हो। उन्हें यथार्थ जाने, अपने आपके स्वरूप की भी विपरीत श्रद्धा न हो जिसके कारण जिसके आधार पर बाह्य पदार्थों की चिन्ता न रहे, व्याकुलता न रहे तो इस प्रयोग से जब हमें अपने आपमें विश्राम मिलता है तो यह ज्ञान ही स्वयं ढूंढ लेता है, जान लेता है कि यह हूं मैं आत्मा। अपने स्वरूप में हूं। अब आप जानें कि आत्मज्ञान कितना उच्च वैभव है। और, समस्त हितों का कारणभूत है। हम धर्म के नाम पर भी सबकुछ समझ डालें, सब बाह्य प्रसंग कर डालें, लेकिन यह आत्मतत्त्व की समझ न बनायें तो उन सब बाह्य पदार्थों से इस आत्मा को शान्ति तो मिली नहीं, न कर्म कटे। धर्म का आधार है आत्मज्ञान। आत्मा का ज्ञान नहीं तो धर्म का पालन भी नहीं। किसी दूसरे का धर्म थोड़े ही पालना है। हमें तो अपने आपके आत्मा का धर्म पालना है तो आत्मा का जो धर्म है, आत्मा का जो स्वरूप है, स्वभाव है वह विदित हो तो मैं क्या पालूं ?

धर्मपालन का संक्षेप में दिग्दर्शन—संक्षेप में आप इतना जानें कि आत्मा का धर्म है जानना देखना। केवल जानना रहे, केवल देखना रहे, उसके साथ विकल्प न हों, रागद्वेष के विकल्प न उठें, मात्र जानन देखन रहे तो समझिये कि हम धर्म में स्थित हैं और हम धर्म के पालनहार हैं। और, ऐसा बनने के लिए व्यवहार में भी हमारी ऐसी प्रवृत्तियां हों कि हम अपने को आत्मा के धर्म में ठहराने के पात्र बनाये रखें तो व्यवहार में यह भी धर्म कहलाता है। जिन प्रवृत्तियों में रहकर हमें यह शिक्षा नहीं मिलती कि हमें अपने ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा में ठहरना है, बल्कि इससे विपरीत ही चले जाते हैं तो वे सब बातें व्यवहार धर्म भी नहीं कहलाती। व्यवहार धर्म वह कहलाता है जो निश्चयधर्म पालने में सहायक हो। तो हम आपको करने के लिए केवल एक ही काम है दूसरा काम नहीं। दूसरा काम तो जब इसमें हम

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ठहर नहीं पाते तब करना चाहिए। करने पड़ते हैं। तो यह मैं आत्मा हूं, अपने स्वरूप से हूं और परके स्वरूप से नहीं हूं।

आत्मस्वतन्त्रता के निर्णय का निर्णयन—अब अपने आपके सम्बंध में विचार करें कि मैं स्वतत्र हूं। स्वतंत्र का अर्थ है—अपने आपके द्रव्य के आधीन हूं। एक सामान्यतया वस्तुस्वरूप की ही बात कही जा रही है। समस्त वस्तुयें स्वतंत्र हैं। यथार्थ दृष्टि से देखो तो पदार्थ का अस्तित्व किसी दूसरे की कृपापर निर्भर नहीं है। हां यह आत्मा ही जिन जिनकी उपासना करता है, अपने आपको कुछ अलौकिक शान्तिधाम में पहुंचाता है उसको कृपा कही जाती है। पर अस्तित्व किसी दूसरे के आधार पर नहीं है। जो है सो स्वत: सिद्ध है। असत् कभी बनाया नहीं जा सकता। असत् की उत्पत्ति नहीं, सत् का विनाश नहीं। यह ऊंचे-ऊंचे सभी दार्शनिकों ने माना है। तो मैं हूं तो हूं, सदा से हूं, सदा तक रहने वाला हूं। अब यह बात दूसरी है कि हम कैसी दृष्टि बनायें तो हमपर क्या बीते ? कैसी दृष्टि बनाते तो हम क्या पाते ? यह एक निर्णय करने की बात है। और यह आत्मीय विज्ञान की बात है। किसी भी वस्तु का निर्णय होगा तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से होगा, सो आत्मा का परिचय निर्णय भी द्रव्य क्षेत्र काल भाव इन चारों रूप से होगा।

स्वातन्त्र्यनिर्णय के स्वरूपचतुष्टय का दृष्टान्तपूर्वक कथन—जैसे यही एक पुस्तक है, तो इसका है आपने कब समझा कि यह है ? जब आपको इसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों विदित हों तब आपने समझ पाया कि यह है। द्रव्य से कैसा है यह पिण्ड ? जिसे आंखों से देख सकते हैं वह तो है पिण्ड और इसके साथ ही साथ इसका आकार प्रसार भी आपको विदित हो रहा है। जितने में यह फैला है वह कहलाया इसका क्षेत्र। और, इसमें जो परणति है, जो व्यक्ति है, जो रंग प्रकट है, जो स्पर्श प्रकट है, जीर्णशीर्ण अथवा मजबूत जो कुछ भी परिणति इसमें है वह भी आपको तुरन्त समझ॰

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आयी। साथ ही इसका भाव, अर्थात् जो चीज शाश्वत रह सकती है, कुछ समय का भी भाव आपकी निगाह में है। जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों आपकी समझ में है तो आपने उस मैं तत्त्व को जाना। बेन्च चौकी आदिक जो हमारे आपके ज्ञान में आते हैं तुरन्त ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये चारों ज्ञान में आते हैं। कोई बता सके अथवा नहीं। बालक से लेकर बड़े बड़े बुद्धिमान तक सबको जो कुछ भी चीज विदित होती है उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव यह चतुष्टय विदित हो ही जाता है। इसके बिना वस्तु के जानने का कुछ उपाय नहीं है।

आत्मा का स्वरूप चतुष्टय से निर्णय तथा द्रव्दृष्टि से परीक्षण— अब आत्मा को भी देखिये—मैं आत्मा हूं तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये चारों चीजें होनी ही चाहिए। तो द्रव्य क्या है ? जो पिन्ड हो। रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला हो। इस तरह के पिण्ड रूप से अगर निरखा जाय तो आत्मा के जानने में बाधा आयगी। और, ऐसा निरखना तो जीव का अनादिकाल से बना हुआ है। यह जीव शरीर को आत्मा मानता है, तो पिण्डरूप से ही तो अपने को समझता। परन्तु, इन रूपरसादिक पिण्डरूप मैं नहीं हूं। मैं तो ज्ञान-दर्शन, आनन्द श्रद्धा आदिक गुण वाला हूं। अर्थात् मैं निरन्तर कुछ न कुछ जानता रहता हूं, मैं किसी न किसी पदार्थ में रमता रहता हूं। स्व में रमूं, पर में रमूं, पर रमण करने का, लगने का इस आत्मा का स्वभाव है। कुछ भी जाने। बेहोश भी हो जाय तो भी वह जानता रहता है। लोग समझते हैं कि यह बेहोश हो गया। अब यह कुछ भी नहीं समझ रहा, पर वह समझ रहा है, अंत: समझ रहा है। कोई पुरुष सोया हुआ है तो क्या उसका ज्ञान नदारद है ? क्या वह कुछ समझ नहीं रहा ? और, वह सोये हुए में भी समझ रहा है। यह जानन गुण एक क्षण को भी अलग नहीं होता। तो जो कुछ जानने में आ रहा है वह है जानने की परिणति। वे परिणतियां जिनके संतानपर, जिनके आधारपर यह सब जानन जानन बनता चला जाय वह है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ज्ञानगुण । तो यों उस ज्ञान, दर्शन, चरित्र, आनन्द, श्रद्धा तथा इनका परिणमन इनका पिण्ड हूं मैं । हूं मैं । जिसमें सुख-दुःख आदिक अनुभव होते हैं वह मैं आत्मा वास्तविक सत् हूं ! तो द्रव्यदृष्टि से, पिण्ड दृष्टि से आत्मा अपने द्रव्य, गुण, पर्याय वाला विदित होता है ।

द्रव्यदृष्टि से आत्मा का स्वातन्त्र्य—अब आप यह देखें कि गुण-पर्यायरूप मैं अपने आपके सत्व से ही हूं, या किसी दूसरे का आधार लेकर मैं बना हुआ हूं ? मैं अपने आपके अस्तित्त्व से ही अपने गुणपर्यायरूप रहा करता हूं । तब मैं द्रव्यदृष्टि से स्वतंत्र हुआ ना, किसी परके आधीन तो न रहा । अब इतनी बात है कि अपनी परिणति अगर परपदार्थों में लगने की बनाऊं तो दुःखी होऊंगा और यदि अपनी परिणति अपने ही प्रभुस्वरूप में लगाऊंगा तो सन्मार्ग पाऊंगा और कभी शान्त होकर कृत्यकृत्य हो जाऊंगा । यह है अपनी करतूत की छांट लेकिन सत्व मेरा मेरे में मेरे ही सत्व के कारण है, किसी दूसरे के सत्व के कारण नहीं है । जैसे अनेक लोग घबड़ा जाते है किसी विपत्ति के आने पर कि अब तो हम इन लोगों के ही बलपर जीवित हैं अन्यथा मेरा अस्तित्व ही नहीं, पर ऐसा कभी हो ही नहीं सकता । किसी पुरुष को फांसी लगादी जाती है तो वह आत्मा, वह जीव कहीं नष्ट नहीं हो जाता । वहां अर्थ इतना ही है कि उस जीव का उस देह से वियोग हो गया । कोई पुरुष अपनी ही बीमारी से मर जाते हैं तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि वे जीव नष्ट हो गए ? अरे नष्ट कहां हुए वहा से मरण करके एक समय बाद में दूसरी जगह जन्म ले लेते हैं । जो जीव यहां से मरण करके कहीं का कहीं पहुंचा उसके लिये यहां कोई कितनी ही क्रियायें करें, कितने ही जाप करवायें, लोगों को भोजन करवायें, वस्त्र वगैरा बांटे, पर यहां के कोई भी चीज उस जीव के पास नहीं पहुंच सकती । इतना स्वतंत्र है यह जीव । किसी भी अन्य पदार्थ का द्रव्य लेकर अर्थात् गुण पर्याय का पिण्ड लेकर यह जीव अपना अस्तित्व नहीं बनाता । यह किसी के आधीन नहीं है कि आप यदि उस मरण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर जाने वाले के नामपर कुछ मंत्र फेर लेंगे तो उसे कुछ फायदा पहुंच जायगा। अरे मैं अपने भाव निर्मल बना सकूं, मंत्र फेरुं अथवा नहीं, मंत्र तो भाव निर्मल करने का साधन है, वह करें अथवा न करें यदि अपने में निर्मलता जागती है तो हम तो अपना लाभ पा ही लेंगे। मैं अपने गुणपर्याय के पिण्ड से पूर्ण स्वतंत्र हूं। किसी दूसरे का सत्व लेकर मैं सत् नहीं हूं। इस तरह मैं द्रव्य से स्वतंत्र हूं। अब क्षेत्रादिक से भी मैं इसी प्रकार स्वतंत्र हूं इसकावर्णन करेंगे।

क्षेत्रदृष्टि से आत्मा का स्वातन्त्र्य—मैं द्रव्य से अपने ज्ञानादिक गुण और उन गुणों की परिणतियों का पिण्ड हूं। क्षेत्र से मैं अपने ही प्रदेश में, अपने ही आकार में हूं, काल से मैं अपनी ही परिणतियों में, अवस्थाओं में रहा करता हूं और भाव से मैं अपने ही स्वभाव में, अपने ही गुणों में रहा करता हूं। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अपना अस्तित्व रखने वाला स्वतंत्र हूं। जो मेरा गुण है अर्थात् आत्मा के जो गुण हैं और जो परिणतियां हैं उनका पिण्ड जो मैं बन रहा हूं तो किसी अन्य की कृपा से नहीं बन रहा, किन्तु मुझ में ही स्वयं अपना अस्तित्व है जिससे कि मैं यह हूं। तो मैं द्रव्य अपेक्षा से स्वतंत्र हूं, क्षेत्र अपेक्षा से भी स्वतंत्र हूं। । । जो आकार है, जब-जब जिस-जिस देह में मैं गया उस-उस देह में मुझे संकोच विस्तार का आधार प्राप्त होता रहा, छोटे शरीर में गया तो छोटे आकार वाला हो गया और बड़े शरीर में गया तो बड़े आकार वाला हो गया। सो यद्यपि कर्मोदयवश जिस शरीर में यह जीव गया वैसे ही परिमाण वाला बन गया, इतना होनेपर भी आत्मा में जो आत्मा का क्षेत्र है, आत्मा का प्रदेशवत्व है वह किसी दूसरे के आधीन नहीं रहा। प्रत्येक पदार्थ प्रदेशवान हुआ करता है और उनका यह प्रदेशवत्व उनका स्वयं स्वरूप से हुआ करता है। किसी दूसरे की कृपापर नहीं चलता। ऐसा यह मैं नाना आकारों में, संसार अवस्था में रहकर भी अपने प्रदेश में ही रहा दूसरे के प्रदेशवत्व से मेरा अस्तित्व नहीं चला, इस कारण से

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

क्षेत्रदृष्टि से भी मैं स्वतंत्र हूं। भैया! यों समझिये कि जो चीज होती है वह अपने स्वरूप से अपना घेरा बनाये रहती है। वस्तु है तो वह कितने में है? अवगाह प्रत्येक पदार्थ में रहता है। तो ऐसा क्षेत्र, अपने प्रदेश सबके अपने आपके आधीन हैं, किसी दूसरे के क्षेत्र के आधीन नहीं हैं। शुद्ध आशय होने पर तो आत्मा जिस आकार में मुक्त होता है उस ही आकार में अनन्तकाल तक रहता है। वहां अन्तर नहीं आता। अन्तर संसार अवस्था में आता है। चींटी के देह में गया तो चींटी के बराबर देह बना, हाथी के देह में गया तो हाथी के बराबर देह बना, इतनेपर भी आत्मा के प्रदेशों में आकार का जो परिणमन हुआ वह तो उसके ही स्वयं के अस्तित्व से हुआ है। किसी दूसरे के कारण नहीं।

कालदृष्टि से आत्मा का स्वातन्त्र्य—जब हम इस आत्मा को काल अर्थात् परिणमन की दृष्टि से देखते हैं तो इसकी प्रतिक्षण नवीन-नवीन अवस्थायें बनती जा रही हैं। देखिये आत्मा के शाश्वत स्वरूप में रुचि रखने वाले ज्ञानी पुरुषों की अवस्था पर दृष्टि नहीं होती। और, ऐसे ज्ञानी पुरुषों के द्वारा निरखा गया स्वभावतः द्रव्य जो अन्तस्तत्व है वह जब वर्णन में आये तो कहा जाता कि अपरिणामी है, शाश्वत है, नित्य है, एकस्वभावरूप है। तो इस दृष्टि से आत्मा नित्य है, एक है, एकस्वभावरूप है, अपरिणामी है लेकिन यह चर्चा यदि सर्वथा ही लगायी जाय आत्मा में तो वस्तु का अभाव हो जायगा। कोई भी पदार्थ हो वह उत्पादव्यय से बाहर नहीं है। भले ही यह एक आकाश अखण्ड व्यापक है जिसमें हम परिणमन क्या समझ सकते हैं? आकाश में क्या बदल हुई, हम नहीं जानते हैं, लेकिन वस्तु का अर्थात् सत् का यह नियम है कि यदि है तो वह अवश्यमेव अपने नये क्षणों में अपना रूप बनाये हुए है याने प्रति समय में अपनी अवस्था बनाता हुआ रहता है। वह चाहे एक सी ही अवस्था हो जिसके कारण परिवर्तन विदित नहीं होता, लेकिन नये क्षण में सत्वरूप से रहता, अगले क्षण में सत्वरूप से रहता, इतनेपर भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वहां उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता आती ही है। इस आत्मा के सम्बंध में तो अनुभव भी यह कहता है कि यह मैं जीव कभी सुखका वेदन करता, कभी दुखका वेदन करता। अनेक प्रकारके मैं अनुभव करता रहता हूं। तो आत्मामें परिणतियां हैं, काल हैं जब जो परिणमन होता है। जैसे कि वर्तमान समय में मंद कषायरूप परिणमन है, क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चारों कषायों में से एक समयमें एक प्रकारकी कषाय होती है और वासनामें तो सब कषायें बनी रहती हैं, लेकिन प्रयोगात्मक परिणतिरूप एक समय में एक जीव की एक कषाय होती है। जब क्रोध कषाय का परिणमन चल रहा है तब यह जीव क्रोधरूप है। जब मान कषाय का परिणमन चलता है तो यह जीव मानरूप है। यों ही जब माया, लोभ आदि कषायों का परिणमन चलता है तो यह जीव उस समय उन रूप है। यों नाना परिणतियों में परिणमता हुआ यह जीव जब जिस समय जब जिस परिणति से परिणमता है तब उसका परिणमन उसके आधीन है न कि किसी दूसरे के आधीन है।

विश्लेषणपूर्वक आत्मपरिणमन के स्वातन्त्र्य का कथन—जैसे कोई पुरुष किसी दूसरे को गाली देने लगा तो उसे सुनकर दूसरे पुरुष ने भी क्रोध किया, तो दूसरे पुरुष ने उस गाली देने वाले पुरुष में क्रोध उत्पन्न किया? वह दूसरा स्वयं अपने अन्दर विकल्प बनाकर, अर्थ लगाकर स्वयं एक नये क्रोध में आ गया, पर एक पुरुष दूसरे पुरुष में क्रोध उत्पन्न करदे सो बात नहीं है। एक के विरोध ने दूसरे को विरोधी बना दिया सो भी बात नहीं। एक के राग ने दूसरे को रागी बना दिया सो भी बात नहीं। प्रत्येक जीव अपने आपके रागद्वेष के परिणमन से परिणमता है। कोई किसी दूसरे की परिणति को लेकर नहीं परिणमता। ऐसा यह मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा सदा अपने परिणमन से ही परिणमता रहता हूं। जीव के परिणमन में निमित्त कर्म का उदय है। और, बाहरी पदार्थ, धन, पुत्र, मित्र, प्रतिकूल, अनुकूल ये सब आश्रय कहलाते हैं। होता क्या है कि यह जीव तो ज्ञानी है ना, सो अन्य

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीव के क्रोध विषय का आश्रय बनाकर स्वयं क्रोध कर बैठता है। तो कर्म का उदय हुआ निमित्त और जिस पदार्थ पर क्रोध किया, जिस जीव को लक्ष्य में लेकर गुस्सा किया वह हुआ आश्रय और क्रोध करने वाला यह जीव हुआ उपादान। तो यहां इस जीव का जो क्रोध रूप बन गया सो कर्म के उदय की परिणति लेकर नहीं बना और आश्रयभूत पदार्थ की परिणति लेकर नहीं बना। किन्तु निमित्त निमित्त रहा, आश्रय आश्रय रहा, और यह स्वयं अपने आपमें परिपूर्ण रहता हुआ क्रोधकषायरूप से परिणम गया। तो जीव का प्रत्येक परिणमन स्वतंत्र होता है। किसी दूसरे के द्वारा किया नहीं जाता। निमित्त और आश्रय होते सो निमित्त और आश्रय का कोई अंश कोई परिणमन कुछ भी गुण, कुछ भी अस्तित्व इस क्रोधरूप परिणमने वाले में पहुंचा नहीं है, इस कारण यह आत्मा अपने परिणमन में स्वतंत्र है।

वर्तमान आत्मपरिणमन के सम्बन्ध में चिन्तन का अनुरोध— काल की अपेक्षा से भी मैं स्वतंत्र हूं। अब थोड़ा अपने आपके बारे में विचार तो कर लीजिए। मैं अनेक पदार्थों में राग अथवा द्वेष किया करता हूं। यह मेरा परिणमन जो पर की ओर आकर्षित होकर हो रहा है वह परिणमन पर ने तो किया नहीं, किन्तु मैंने ही स्वयं अपनी इच्छा बनाकर, अपने आपके मन को काबू में न रखकर किया है। इस परिणमन से अपने आपका कुछ लाभ है क्या? जितने क्रोध, मान, माया, लोभरूप परिणमन चलते हैं वे मिट जायेंगे फिर नये बनेंगे। ये स्वयं विभाव हैं, मलिन हैं, क्षणिक हैं, अशरण हैं, इन भावों के वश होकर मैं अपने आपको जो पर की ओर बहा रहा हूं इस बहाव से मेरा कुछ उत्थान है क्या? ऐसा तो अनन्त भवों में करते चले आये हैं। जिस भव में जन्म लिया उस ही भव में किसी से भी राग किया, किसी से भी विरोध किया। देह में ममत्व किया, पर इस करतूत से कुछ अपना उद्धार हो सका क्या? वर्तमान की बात भी विचारो। वर्तमान में जो अनेक पदार्थों से रागपरिणति चल रही है वह परिणति मेरे आत्मा का उद्धार

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर सकेगी क्या ? यह मनुष्यभव तो आत्मोद्धार के लिए है। विषयकषायों के, भोगोपभोग के सेवन के लिए नहीं है। ये सब व्यर्थ अनर्थ तो पशु-पक्षियों के भवों में रहकर भी किए जा सकते हैं। इनमें समय खोने से क्या लाभ ? जैसे-जैसे उम्र बड़ी होती जाती है वैसे ही वैसे मृत्यु के निकट पहुंच रहे हैं। इतने पर भी हम आप अपने आत्मोत्थान के लिए तीव्र रुचि नहीं बनाते।

आत्महित को महत्त्व देने का विवेक—भैया ! यह पक्का निर्णय किये बिना काम न चलेगा कि हमारा गुजारा, हमारी शान्ति, हमारा उद्धार तो एक अपने सहजस्वरूप को जानकर उस ही में रमने से होगा, अन्य प्रकार न होगा। मेरा काम भी मात्र एक यही है। अपने को जानूं, अपने में रुचि करु और अपने में रहूं इसके सिवाय अन्य कोई दूसरी बात न सुहाये, यह बात गृहस्थी में भी सम्भव होती हैं। ज्ञानी पुरुष का ऐसा चित्त हो जाता, ऐसा उपयोग हो जाता कि उसे धन वैभव आदिक अन्य वस्तुवों मे महत्त्व नहीं दिखता। वह महत्त्व मानता है अपने आपके धर्म का, स्वरूपदर्शन का, स्वरूप में रमने का। जिनको यह बात नहीं सुहाती तो यों समझना चाहिए कि जैसे पुत्र प्रसव करने वाली माता के दुःख का अनुभव बंध्यास्त्री तो नहीं कर सकती इसी प्रकार ज्ञानी संतजनों की जहां दृष्टि लगी है, जिसे सार समझा है, जिसे शरणभूत माना है, उसके सिवाय अन्यत्र कहीं उसका उपयोग जमता नहीं। करना पड़ रहा, फिर भी जमता नहीं, उसका क्या अनुभव है, उसकी क्या स्थिति है, इस बात को मोही अज्ञानीजन नहीं समझ सकते हैं। सचमुच उस ज्ञानी गृहस्थ की भी इच्छा किसी बाह्य पदार्थ में नहीं है। जैसे कहते हैं कि अनाकांक्ष होता है ज्ञानी सम्यग्दृष्टि। निःकांक्षित अंग होता है। उसमें कोई भले ही यह शंका करे कि यदि दूकानपर बैठा है तो क्या वह इच्छा नहीं करता कि आज इतना लाभ होना चाहिए ? भले ही इच्छा करता है मगर वह इच्छा अन्तः इच्छा ही नहीं है। जिसको यह निर्णय है, जिसको यह प्रतीति है कि करने योग्य काम तो मात्र एक यही है—आत्मा के रत्नत्रयस्वरूप में

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रमना, दूसरा काम जिसे सुहाता ही नहीं है, सम्यक्त्व के कारण जिसकी इतनी तीव्र लगन हुई है उस पुरुष में इच्छा भी आये तो भी वह इच्छा उसके अंत: घर नहीं कर सकी, इस कारण वह इच्छा इच्छा ही नहीं कहलाती। इच्छा होकर भी इच्छा नहीं है क्योंकि उनको महत्त्व नहीं दे रहा है वह।

शीघ्र आत्मोत्थान के उपाय में लगने में बुद्धिमानी—भैया! आत्मोत्थान की बात इस भव में बनालें तो भला ही भला है और न बना सके तो इसका फल बहुत कटुक है। समय बराबर नहीं मिलता। भला ऐसा मन, ऐसा देह, ऐसी बुद्धि, ऐसा समय, ऐसा देव, शास्त्र, गुरु का समागम ये सारी बातें इन मायामयी नाना दुर्गतियोंरूप, क्लेशमय संसार में पा लेना कितना दुर्लभ है। इतनी दुर्लभ चीजें पाकर भी इनका महत्व नहीं आंक रहे, यह कितनी अज्ञानताभरी बात है। जैसे कोई गरीब पुरुष एक लखपती पुरुष के धन का महत्व तो कूत लेता है पर वह लखपति पुरुष धन में तृष्णा होने के कारण उस प्राप्त धन का महत्व नहीं कूत पाता, वह तो यही समझता है कि मेरे पास तो कुछ भी धन नहीं है, इसी प्रकार हम आपको आज मनुष्यभव मिला है, श्रेष्ठ समागम मिले हैं फिर भी अज्ञानतावश इन दुर्लभता से प्राप्त समागमों का महत्व नहीं कूत पाते। इस मनुष्यभव के महत्व को जब देव भी अंगीकार कर लेते हैं कि मनुष्यभव महान् है तभी तो देखो—तीर्थंकरके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण आदि सब कल्याणकों में और सब समयों में देव और इन्द्र किस प्रकार की सेवा करते हैं। वे देव इस मनुष्यभव का महत्व जानते हैं। मुक्ति प्राप्त होती है तो इस मनुष्यभव से। मनुष्य का मन सब संज्ञी जीवों से श्रेष्ठ कहा गया है।

कालदृष्टि से आत्मस्वातन्त्र्य जानकर इस ज्ञान के सदुपयोग का बात—यहां अपने परिणमन के सम्बंध में विचार करिये कि मैं कहां पर पदार्थों के द्वारा फसा हूं? किसी दूसरे ने मुझे कहां वश में किया है? मैं स्वतंत्र हूं, मैं ही अज्ञानभाव में बढ़कर परपदार्थों में लग बैठता हूं। मैं अपने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

को सम्हालूँ तो अपने आपमें अपनी हठ बना सकता हूं। मुझे तो अपना ही कार्य करना है। स्वयं के स्वरूप को निरखकर उसमें ही तृप्त बने रहना है। दूसरा काम मेरे करने को पड़ा ही नहीं है। बाह्य में जो कुछ होता हो, होगा उदयानुसार। किसी भी प्रकार हो, किसी भी बाह्य पदार्थ की परिणति से मेरा सुधार बिगाड़ बंधा हुआ नहीं है। मैं ही अपने उपयोग में अपने को बुरे रूप से बर्तता हू तो अपना बिगाड़ कर लेता हूं और मैं ही अपने स्वरूप की ओर बर्तता हूं तो अपना सुधार कर लेता हूं। मैं बिगाड़ नहीं चाहता। बिगाड़ में अनन्त काल व्यतीत हो गया। विषयकषायों में क्रोधादिक भावों में परिग्रह के लपेट में बहुत समय व्यतीत हो गया, मिला कुछ नहीं, मिलेगा कुछ नहीं। यह आत्मा अमूर्त अपने ही स्वरूप में रत रहनेवाला शरीर को छोड़कर जब चल देगा तब एक अणु भी इसका साथ न देगा। ये धन वैभव, पुत्र-परिजन कुछ भी काम न देंगे जिन्हें आज कल्पना से अपना माना जा रहा है। तो ऐसे असार अशरण संसार में हम मौज मानकर बैठे हुए हैं और आत्मोत्थान के लिए कोई गहरी दिलचस्पी नहीं ले रहे हैं, कुछ गम्भीर चिन्तन नहीं कर रहे हैं तो इसका फल क्या होगा? मैं स्वतंत्र हूं, मैं बाह्य विकारों से बाह्य फंदों से, बन्धनों से हटकर सबको भूलकर एक अपने आपके स्वतंत्र स्वरूप को निरखूँ तो निरख लूँगा। मुझमें बाधा देनेवाला कोई नहीं है। मैं ही बाधक बनकर दुःखी होता रहता हूं। मैं अपने ज्ञान को सम्हालूँ तो मैं ही साधक बन जाता हूं। मैं द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से, स्वतंत्र हूं।

आत्मा की निश्चलता—मैं निश्चल हूं। जो मेरा स्वरूप है उस स्वरूप से मैं कभी विचलित नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ निश्चल है। यदि पदार्थ निश्चल न होते तो आज दुनिया में कुछ न होता। सब शून्य हो जाता। एक पदार्थ यदि दूसरे पदार्थ में अपना स्वरूप रख दे, किसी दूसरे का स्वरूप ग्रहण करले तो अटपट कोई किसी का स्वरूप लेता कोई किसी का स्वरूप लेता। कोई मेरा स्वरूप ही ले लेता तो मैं जगत में कुछ भी न रहता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और अन्य भी कुछ न रहता। पदार्थ सत् तब ही रह पाते हैं जब अपने आपके स्वरूप में अचलित हैं। कितनी ही कठिन दुर्गतियों में यह जीव गया, जिस अवस्था में गया, जहां कहने मात्र का ज्ञान था, तिसपर भी इसने अपने चैतन्य-स्वरूप को खोया नहीं। कोई भी सत् अपना स्वरूप खोता नहीं। तो जो मुझसे खोया नहीं जा सकता, जो मुझसे त्रिकाल अलग हो नहीं सकता ऐसा चैतन्यस्वरूप मैं स्वरूपत: अपने आपमें निश्चल हूं। उस स्वरूप को अधिकतर दृष्टि में लेने से मोह हटता है, निर्विकल्प उपयोग की परिणति बनती है, और आत्मा ऐसे विशुद्ध आनन्द का अनुभव कर लेता है कि जिस अनुभव में अनेक कर्मों की निर्जरा होती है और शान्ति का अनुभव होता है। बाह्य पदार्थों के परिचय में न पड़कर अपने आपके स्वरूप के परिचय में चलें और स्वरूप के निकट उपयोग को रखकर सन्तोष पायें, अपने को कृतार्थ मानें, फिर उसके करने को कुछ रहा ही नहीं। करने योग्य कुछ काम बाहर में दिखता ही नहीं। तो जिसको यह निर्णय हुआ है कि बाहर में मुझे कुछ काम करने को रहा ही नहीं है उसे शान्ति अपने आप होती है। तो अपनी निश्चलता विचारने से अद्भुत शान्ति की प्राप्ति होती है। मैं स्वरूप से निश्चल हूं, चैतन्य-मात्र हूं, ऐसे चैतन्यस्वरूप में रूचि हो, यहां ही उपयोग लगायें तो यह आत्मा के उद्धार का काम है।

स्वभाव की सार्वकालिक निश्चलता—जिस पदार्थ का जिस स्वरूप में अपने आप सहज सत्व होता है वह पदार्थ अपने उस स्वरूप को, स्वभाव को किसी भी स्थिति में नहीं छोड़ता। चाहे विरुद्ध अनेक विभाव परिणतियां हो जायें, तिसपर भी स्वभाव अनुपपन्न नहीं है। जैसे—मानलो जल का स्वभाव ठंडा है तो जल कितना ही खौला हो, गर्म हो जाने पर भी और उस जल में ठंड कहीं पायी न जानेपर भी जब स्वभाव दृष्टि से सोचेंगे तो यह कहना होगा कि जल स्वभाव से ठंडा है। जैसे दर्पण के सामने बहुत बड़ी चीज रंग-बिरगी उपाधि खड़ी हो तो वह सारा दर्पण रंगा प्रतिबिम्ब

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। उस दर्पण में किसी भी जगह कोई हिस्सा दर्पण का जैसा असली स्वरूप है उस स्वच्छता के रूप में प्रगट नहीं है फिर भी स्वभाव तो स्वच्छता का है। उस रंग-बिरंग विकार से रहित होने का उसका स्वभाव है, इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव एक चैतन्य है, चेतना, चित्प्रतिभास। तो यह आत्मा चाहे कितनी ही विभाव परिणति में हो, जहां सारा ज्ञान ढकासा है, कथनमात्र का ज्ञान है। कषायों से सारा ज्ञान रंजित है, जिसका ठीक ठिकाना भी नहीं बन रहा है ऐसी विचित्र विभाव परिणतियों के बीच भी स्वभावदृष्टि से निरखा जाय तो कहना होगा कि वह स्वरूप से, स्वभाव से निश्चल है। उसका जो स्वभाव है वह चलित नहीं हुआ। यदि स्वरूप चलित हो जाय किसी परि-स्थिति में तो वस्तु का अभाव हो जाता तथा वह वस्तु कभी भी अपने असली रूप में न आ सकेगी यों यह मैं विचित्र विभाव परिणतियों के बीच भी स्व-भावतः स्वरूप से अपने असाधारण गुण से निश्चल हूं।

आत्मा की निष्कामता—जगत के समागमों को असार जानकर किसी भी जगह चित्त न रमने के कारण स्वतः ही अपने आपके हित के लिए उद्यमी ज्ञानी संत पुरुष आत्मतत्त्व के सम्बंध में चिन्तन कर रहा है कि यह मैं निष्काम हूं। काम, कामना—इच्छा का नाम काम है, कामना है और उपलक्षण से समस्त विकारों का नाम काम है। यह मैं आत्मा निष्काम हूं अर्थात् अविकारी हूं। किसी भी वस्तु में वह ही मात्र एक रहता है, दूसरे का प्रवेश नहीं होता। यह सदासिद्धप्रभाव है, अन्यथा सत्त्व नहीं रह सकता तो मुझ आत्मा में क्या बसा हुआ है, क्या शाश्वत है ? वह एकमात्र चैतन्यस्वरूप। जो सत्त्व है सहज, किसी ने बनाया तो नहीं, अनादिसिद्ध जिस पदार्थ में जो स्वभाव है वह पदार्थ उस स्वभावरूप में है। उसके अतिरिक्त जो परका सम्बंध है अथवा परसम्बंध के कारण जो विकारभाव होता है वह मेरे स्वरूप में, स्वभाव में नहीं कहा जा सकता। तो स्वभावदृष्टि से देखने पर विदित होता है कि मैं अविकारी हूं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हितरूप निरुपधि स्थिति की साधिका निरुपधि दृष्टि—देखिये—लोक में अपने लिए हितरूप क्या चीज है, और पाने योग्य क्या तत्त्व है? वह है निरुपाधि स्थिति, उपाधिरहित, परद्रव्य के सम्बंध से रहित। परद्रव्य के सम्बंध से होने वाले प्रभावों से रहित जो आत्मा की सहज स्थिति हो बस वही निराकुल है, कृतार्थ है, सर्वकल्याणसम्पन्न है। उस स्थिति में जो आत्मा पहुंचे हैं उन्हें कहते हैं सिद्ध प्रभु। तो जो निरुपाधि स्थिति है वही हितरूप है और वही पाने योग्य है। ऐसी निरुपाधि स्थिति को मैं किस प्रकार पा सकूं, उसका उपाय क्या? उसका उपाय तब ही बन सकता है, जबकि यह आत्मा निरुपाधि हो, अर्थात् मूल में, स्वभाव में यदि निरुपाधि है तो निरुपाधि स्थिति बन भी सकेगी? अतएव निरुपाधि स्वभाव की दृष्टि करना उस शुद्ध दशा के व्यक्त होने का कारण है। मैं यहां अपने को मानूं कि जिस शरीर को पाया कि यह ही मैं हूं तो मेरा उपयोग शरीर में फंसा। मैं शरीररूप अपने को अनुभव करता रहूं तो ये शरीर मिलते चले जायेंगे, और यदि यह भाव बना कि यह शरीर मेरे दुःख का कारण है, मैं शरीर से न्यारा रहूं तो मुझे किसी प्रकार की विपत्ति नहीं। मुझे तो शरीर से न्यारा अपने आपके सत्वरूप रहना है। यहां मान रहे शरीरको कि यही मैं हूं और चाहें कि मैं शरीर से निराला अपने विकासरूप हो जाऊं तो यह असम्भव बात है। मुझे अभी से यह दृष्टि बनानी होगी कि मैं शरीररहित केवल अपने चैतन्यस्वरूपमात्र हूं तब इस स्थिति को पा सकेंगे। तो निरुपाधि स्वभाव का दर्शन करना यह शुद्ध दशा पाने के लिए सर्वप्रथम और अतिआवश्यक है। उसी प्रयोजन में यह चिन्तन चल रहा है कि मैं अविकार हूं।

दृष्टिमात्र से सृष्टियों का महाविधान—विकारों को अपनाने से, विकारों को आत्मस्वरूप मानने से विकारों की संतति बढ़ेगी और अविकारस्वरूप अपने को मानने से, अविकार स्वभाव को अपनाने से विकारता का विकास होगा। तो आप यह देखिये कि मैं अपने आपके ही प्रदेशों में विराजा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हुआ यहां ही सारी सृष्टियों का प्रबंध बना लेता हूं। जैसे कोई समर्थ अधिकारी अपने आफिस में बैठा हुआ जहां कि अनेक तरह के यंत्र चल रहे हैं, किस कक्षा में कैसी पढ़ाई चल रही है उसका दृश्य देखने का भी यंत्र लगा है। कहां कौन किस तरह पढ़ा रहा है वह सारी स्पीच सुनने का भी यंत्र लगा है और उनसे बोलने-चालने का भी यंत्र लगा है, सारी सुविधायें हैं तो वह अपने ही कमरे में बैठा हुआ सब तरह की व्यवस्थायें बनाने में समर्थ है। तो आत्मा को तो कोई भी श्रम करने की आवश्यकता नहीं, केवल एक दृष्टिभर करने की आवश्यकता है। उस दृष्टि में कहीं हल्ला नहीं, कहीं श्रम नहीं, केवल एक उपयोग के मुड़नेभर की बात है। जिसपर हमारा सारा भविष्य निर्भर है—मैं कैसा बनूं, किस ढंग से रहूं, ये सब बातें अपने आपकी दृष्टिपर निर्भर हैं। जहां अपने ही स्वरुप को निरखा, सर्व से निराला ऐसा चेतनामात्र अपने आपके स्वभाव में जहां उपयोग गया वहां इसका परिणमन क्या बनेगा ? सब कल्याणप्रद परिणमन बनेगा। जहां इसने अपनी प्रभुता का आश्रय बनकर बाह्य पदार्थों में उपयोग दिया वहां इसका क्या परिणमन बनेगा ? दु:खरुप, आकुलता रुप। तो देखलो—हमारा सारा भविष्य हमारी दृष्टिपर ही निर्भर है।

अपने आपने अपना अन्त: निर्णय—हमें अधिकाधिक यह यत्न करना चाहिए कि किसी भी प्रकार हो, बाह्य समागमों से वैराग्य हो और अन्त: स्वभाव की हमारी रुचि जगे। एक ही निर्णय है। सब कुछ हो जावे, मिटे बिगड़े, पर मेरे आत्मस्वभाव की दृष्टि मत बिगड़े। यदि यह डोर बिगड़ गयी तब फिर परिणति पतंग ठिकाने नहीं है। यहां भाव ऐसा निश्चल आना चाहिए अपने आपमें कि जिसमें किसी भी परिस्थिति में चलितपना न हो सके। प्रतीति होती है अनुभूति के बाद। किसी भी सम्बंध में उसका पूर्ण विश्वास बनता है उसका अनुभव प्रत्यक्ष होने के बाद। और अनुभव बनने से पहिले एक साधारणतया प्रतीति भी होती है। आत्मा कैसा है इसकी निरन्तर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रतीति बनी रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम एक पूरे आत्मा की अनुभूति बने। किसी मनुष्य को देखो—किसी मनुष्य से बोलचाल व्यवहार किए बिना, बहुत दिन तक परखे बिना उसकी प्रतीति तो नहीं हो पाती, इसी प्रकार आत्मा को बहुत दिनों तक बातों से परखा और फिर कभी अनुभूति से परख लिया तो उसके बाद उसकी प्रतीति अडिग हो जाती है। सम्यक्त्व जिस क्षण उत्पन्न होता है उस क्षण अनुभूति को लेकर उत्पन्न होता है। उसके बाद फिर भी अनुभूति बनाने पर प्रतीति सदा रहा करती है। तो हम अपनी श्रद्धा में यह बात लायें कि मेरा अन्य सब कुछ भी न्योछावर हो जाय, पर किसी भी प्रकार मुझे अपने आत्मा के सहजस्वरुप का अनुभव बने। यही सर्वोत्कृष्ट वैभव है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरे लिए सार और शरण नहीं है।

आत्मा का ज्ञात दर्शन स्वरूप—मेरा स्वरुप है चेतन। चेतन में क्या होता है? चेतना, प्रतिभास। प्रतिभास-सामान्य-विशेषात्मक होता है। जैसे दर्पण में स्वच्छता। अब वह स्वच्छता सामान्य-विशेषात्मक है। यदि दर्पण में कभी प्रतिबिम्ब न आये तो हम कैसे विश्वास कर सकें कि दर्पण में स्वच्छता है, और, दर्पण में जो प्रतिबिम्ब आया, जो स्वच्छता का व्यक्तिकरण बना, वह इस ही आधारपर बना कि दर्पण में स्वच्छता साधारण रूप से निरन्तर बनी रहती है। हम चेतते हैं और हमारी चेतना में वे सब पदार्थ ज्ञात होते हैं। इसका ज्ञान होता है तो इन सब पदार्थों का ज्ञान तभी तो हुआ जब मुझमें एक साधारण प्रतिभास की भूमिका है वह तो है दर्शन और जो एक विशिष्ट प्रतिभास है, बोध है, जो मेरा साकार रूप है वह है ज्ञान। मैं निरन्तर जानता हूं और देखता हूं। ज्ञान और दर्शन इन दोनों का काम मुझ में निरन्तर चलता रहता है। छद्मस्थ अवस्था के कारण उपयोग दोनों का एक साथ नहीं हो पाता। उपयोग दोनों का एकसाथ होता सिद्ध अवस्था में, सर्वज्ञ अवस्था में। लेकिन ज्ञान, दर्शन, गुण ये मेरे निरन्तर चल रहे हैं। दर्शन निरन्तर न चले तो ज्ञान कहां विराजे? ज्ञान निरन्तर न चले तो मेरा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रूप ही क्या रहा ? मेरा काम जानना देखना है, इसके अतिरिक्त अन्य काम मेरा नहीं है।

ज्ञाता दृष्टा रहने के विरुद्ध विचार में आपत्ति—भैया ! जिन किन्हीं भी दो-चार जीवों को मान लिया कि ये मेरे हैं, ये मेरे घर के हैं, यह तो विपदा है, विडम्बना है, व्यामोह है ऐसा मान लेना और ऐसा राग-रंग बनने में बना रहना यह मेरा स्वरूप नहीं। मेरा काम नहीं। मेरा विशुद्ध कार्य है जानना देखना। जानने देखने में कोई आपत्ति नहीं। आपत्ति आती है तो राग-विरोध के भावों में, इष्ट अनिष्ट के भावों में आती है। तो ये इष्ट अनिष्ट भाव मेरे स्वरूप नहीं। मेरा स्वरूप है जानन देखन। जानता हूं ज्ञानस्वभाव से और देखता हूं दर्शनस्वभाव से। दर्शन का अर्थ आंखों से दिखना नहीं, जो आंखों से दिखता है वह तो ज्ञान है। इसे दर्शन नहीं कहते। जैसे कर्ण-इन्द्रिय से जो जाना वह ज्ञान है, नासिका-इन्द्रिय से जो जाना वह भी ज्ञान है, स्पर्शन, रसना-इन्द्रिय से जो जाना सो ज्ञान है, इसी प्रकार चक्षु-इन्द्रिय से भी जो जाना सो ज्ञान है, जिसमें न कोई व्यक्तिगत चीज आयी, न आकार आया, न व्यक्ति आया, न अवस्था आयी, ऐसा जो सामान्य प्रति-भास है उसको दर्शन कहते हैं। यह दर्शन हम आपके चल रहा है निरन्तर, किन्तु उनका उपयोग क्रम से चलता है। दर्शन, फिर ज्ञान, फिर दर्शन, फिर ज्ञान।

बाह्य पदार्थों के आकर्षणात्मक ज्ञानोपयोग की धुन में दर्शनो-पयोग के लाभ से वंचितपना—भैया ! उस दर्शन की पकड़ यदि हो जाय, जैसे हम ज्ञान की पकड़ कर लेते हैं, यह है जानकारी में, तभी तो ज्ञान उप-चरित भी हो जाता है, तो जैसे—हम ज्ञान की पकड़ कर सकते हैं इस तरह यदि दर्शन की पकड़ हो जाय तब तो बेड़ा पार है। हम लोगों के दर्शन होता तो रहता है मगर पकड़ नहीं हो पाती। ग्रहण हो तो अनुभूति जगे। जैसे—किसी धनार्थी पुरुष को किसी ने बता दिया कि देखो—अमुक पहाड़ पर इतने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कंकड़-पत्थर पड़े हैं उनमें से कुछ पारस-पत्थर भी हैं, यदि पारस-पत्थर तुम्हारे हाथ लग जायगा तो तुम जितना चाहे लोहे का सोना बनाकर धनी हो जावोगे। तो वह धनार्थी पुरुष पहुंचा उसी पहाड़पर। वहां दसों गाड़ी पत्थर लेकर उसने क्या किया कि समुद्र के किनारे पर एक लोहे का मोटा डंडा गाड़ दिया, और पत्थर मारकर देखे। यदि वह लोहे का डंडा सोना नहीं बना तो उस पत्थर को उठाकर समुद्र में फेंक दे। यों ही वह बार-बार करता गया, पत्थर उठाया, मारा फेंका। अब वहां लाखों पत्थरों में से कोई एक पारस-पत्थर था। उसकी धुन ऐसी तेज बन गयी कि झट पत्थर उठाया, मारा और फेंका। इसी धुन में वह पारस-पत्थर भी उठाया, मारा और फेंका। उसके बाद देखा तो वह लोहे का डंडा सोना बन गया था। अब वह पछताता है। हाय! मैंने तो पारस-पत्थर पाकर भी खो दिया। इसी तरह से हमारे ज्ञानोपयोग की धुन ऐसी तेजी से लग रही है परपदार्थों में, उपयोग हमारा ऐसा भ्रमण कर रहा है कि प्रत्येक ज्ञानोपयोग से पहिले दर्शनोपयोग होता रहता है लेकिन उस धुन में दर्शनोपयोग के समय जो विश्रांति पा लेना चाहिए वह पा नहीं सकते।

आत्मा का विशुद्ध कार्य—आत्मा का विशुद्ध कार्य जानन-देखन है। ज्ञाता दृष्टा परिणमन से आगे बढ़े तो इसके मायने है कि हम भगवान से आगे बढ़े। जो काम भगवान नहीं कर सके उस काम को करने की हमने कमर कसी। तो जो बड़े से बड़े बन जायेंगे वे भी गिरेंगे, भ्रमण करेंगे। ये मोही जीव बाह्य पदार्थों के आश्रय में प्रभु से आगे बढ़ना चाहते हैं। प्रभु तो ज्ञाता दृष्टा हैं। ये मोही जीव ज्ञाता दृष्टा न रहकर रागद्वेष मोह में बढ़ रहे हैं। जैन शासन प्राप्त करने का वास्तविक लाभ उठाना तो यह कहलायगा कि जिस किसी भी प्रकार हो हम अपने को सबसे निराला केवल चैतन्य-स्वरूपमात्र अनुभव में लायें। यह बात बन सकी तो यह जीवन सफल है। और, यह बात न बन सकी तो जैसे अनन्त जीवन पाये वैसे ही यह एक

http://sahjanandvarnishastra.org/

मानव-जीवन भी है। ऐसा स्वतंत्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता दृष्टा मैं आत्माराम हूं।

आतमराम—इस मुझको आत्माराम शब्द से कहने की प्रसिद्धि क्यों हो गयी है। यह आत्मा भी है व राम भी है आत्मा कहते उसे हैं—अतति सततं गच्छति जानाति इति आत्मा, जो निरन्तर जानता रहे उसे आत्मा कहते हैं। क्रोध करे तब भी जानता है, मान करे तब भी जानता है, माया, लोभ आदि करे तब भी जानता है। यों निरन्तर जानते रहने वाला मैं आत्मा हूं। और, राम हूं। रमन्ते योगिनः अस्मिन् इति रामः। जहां योगीजन रमण करते हैं उसे राम कहते हैं। योगीजन, साधुजन कहां विश्राम पाते हैं? एकान्त निर्जन स्थान में। किस कारण वे सन्तुष्ट रहा करते हैं? एकान्त निर्जन स्थान में। किस कारण वे सन्तुष्ट रहा करते हैं? उन्हें अपने आत्मा के उस शुद्ध स्वभाव से भेंट हुई है जिसके निकट रहनेमें कभी ऊब नहीं आती, और निरन्तर प्रसन्नता से रहा करते हैं। ऐसा यह मैं आत्माराम हूं। अपने आपके अन्तस्तत्त्व का प्रशंसन करना कीर्तन कहलाता है। मैंने सब कुछ कीर्त डाले, पर आत्मा के अन्तस्तत्त्व के स्वरूप को कभी नहीं कीर्ता। अब अपने हित के लिए भावना जगी है तो यही एक मेरा काम है कि मैं आत्मा के उस सहज स्वरूप को दृष्टि से ओझल न होने दूं, सदैव प्रतीति में रखूं।

मैं वह हूं जो हैं भगवान। जो मैं हूं वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान। वे विराग यहं रागवितान ॥१॥

उपास्य और उपासक की निरन्तरता का कीर्तन—आत्मा के कीर्तन में,अन्तस्तत्त्व की रुचि में यह ज्ञानी विचार कर रहा है कि मैं वह हूं जो भगवान हैं। इस तथ्य को द्रव्य दृष्टि से निहारना है, जैसा कि स्वतंत्र निश्चल निष्काम शुद्ध ज्ञायक भावस्वरूप आत्मा की बात कही गई थी उस ही स्वरूप से देखना है। मैं वह हूं जो भगवान हैं। भगवान का नाम परमात्मा है और हम आप सबका नाम आत्मा है। जो आत्मा परम हो जाते हैं उन्हें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

परमात्मा कहते हैं। इससे सिद्ध है कि आत्मतत्व के नाते से हमारी और भगवान की जाति एक है, और इसी कारण हमारे स्वरूप में और प्रभु के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है।

सांसारिक सुखों की विडम्बना—संसार के सुख सब इस जीव के लिए विडम्बना है। किन्हीं भी विषयों की प्रीति में आत्मा को किसी भी प्रकार का लाभ नहीं है और उन विषयों की प्रीति से आत्मा कभी तृप्त नहीं हो सकता। अबसे अनन्तकाल पहिले से चला आ रहा है जन्म मरण और प्रत्येक भवों में उस भव के अनुकूल विषय भोग भोगे हैं। यहां तक कि देवभव भी प्राप्त किया और वहां अनेक दिव्य भोग भी भोगे किन्तु तृप्त न हुआ। अन्य भवों की बात छोड़ो अपने इस मनुष्यभव की ही बात देखलो कि जन्म से लेकर अब तक कितने विषय भोगे पञ्चेन्द्रिय के, लेकिन किसी भी विषय से तृप्ति न हुई। एक भोजन का तो ऐसा विषय है कि वह करना ही पड़ेगा। भोजन खाना ही पड़ेगा लेकिन उसके साथ जो रसना का स्वाद लेकर भोजन करने की भावना बनाई गई, रोज भोजन करने पर भी रसना की तृष्णा न मिटी और भोजन के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों के विषय तो विषय हैं ही; जिनका कि जीवन से कोई सम्बंध नहीं कि उन विषयों को न भोगें तो हमारा जीवन न रहेगा, बल्कि उन विषयों की प्रीति से जीवन में क्षति ही होती है। तो किसी भी विषय से आज तक तृप्ति न हो सकी, तब विषय का राग व्यर्थ है।

सांसारिक सुखों से विरक्त होनेपर भगवत्तत्त्व में रुचि की वर्तना—इन विषय सुखों से प्रीति करना व्यर्थ है, यह जिनका निर्णय हो वे विषयों से मुख मोड़ सकेंगे, और विषयों से मुख मोड़ सकनेपर ही भगवत् तत्त्व में रुचि बन सकेगी। मैं वह हूं जो प्रभु हैं। मैं साधारण गुणोंमय हूं, चैतन्य असाधारण गुणमय हूं। स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। मैं उस हार में पिरोये गए सूत के माफिक सवपर्यायों में व्यापी हूं। जैसे कि हार में या जाप

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

में जो सूत पिरोये गए हैं वह सब, सब दानों के बीच है इसी प्रकार मेरा भी स्वसर्वभावव्यापक जो स्वरूप है वह अनादि अनन्त जितनी भी पर्यायें हुई हैं उन सब पर्यायों में व्यापी है। यद्यपि वे पर्यायें अब नहीं हैं जो भूत में हो चुकीं, जो पर्याय भविष्य में होंगी वे अब नहीं हैं लेकिन मैं द्रव्य यदि केवल वर्तमान पर्यायमात्र ही समझूं तो यहां अत्यन्त क्षणिकपन आ जाता है। मैं सर्वथा क्षणिक नहीं हूं, शाश्वत हूं। यदि मैं क्षणिक होऊं तब फिर कल्याण की आवश्यकता क्या है? मैं हूं, मिट गया, आगे रहूंगा नहीं। तपश्चरण करके अपने आपको विकल्पित करुं, दुःखी करुं और उसका फल भोगेगा कोई दूसरा आत्मा तो ऐसा करने को कौन चाहेगा? मैं शाश्वत हूं, मेरे में प्रत्यभिज्ञान होता है। मैं वह हूं जो कल था, मैं अनेक वर्षों से हूं। मैं वहीं हूं और जब अनेक वर्षों से हूं, हूं तो सदा से हूं सदा काल तक रहूंगा। अपने आपके हित की अभिलाषा रखना यह अपने सुभवितव्य की बात है।

अन्तः सयंमपूर्वक भगवत्स्वरूप की आराधना से लाभ—अब भगवान को द्रव्य गुण पर्याय रूप से निरखिये। कैसे हम भगवान को जानें कि प्रभु क्या है? प्रभु पर्यायतः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्ति के स्वामी हैं और ऐसी बात हम आपमें भी शक्तिरूप से पायी जाती है। जैसा मैं हूं तैसा ही अपने को अपनी निगाह में रखूं। अपने स्वरूप से जरा भी हिलूं-डुलूं नहीं। तो निराकुलता तो आप अभी स्वाद सकेंगे। निराकुलता हमारी कहीं गई नहीं है, पर हम ही जब अपने आपके संयम में नहीं रहते, अपने आपके स्वरूप में नहीं रहना चाहते तो अपने ही ऊधम से, अपनी ही उद्दण्डता से दुःखी होते फिरते हैं। पर वस्तुओं से मोह किया तो उससे लाभ क्या? क्या वियोग न होगा? न वियोग हो तो जब तक संयोग है तब तक भी वह मेरा कुछ नहीं है। जब तक समागम है तब तक भी मेरे क्षोभ के ही तो कारण हैं, पर शान्ति के कारण नहीं हैं। क्षोभ राग और द्वेष को कहते हैं। केवल द्वेष का नाम क्षोभ नहीं है। जिस राग में मौज में

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हम मस्त रहते हैं, हो क्या रहा है ? अपना प्रभु अपनी निगाह में नहीं है, सो आकुलित होते जा रहे हैं। और वह क्षोभ तो ऐसा कठिन है कि आकुलित भी होते और यह अनुभव नहीं करते कि हममें दुःख है, आकुलता है राग और मोह से। ऐसा दुःख है कि दुःखी भी होते जाते और हटना भी नहीं चाहते। द्वेष का, विरोध का, अनिष्ट समागम का तो क्लेश ऐसा है कि उसमें कुछ सावधान तो रहते हैं, जानते तो हैं कि इनसे हटना चाहिए, मगर राग का मोह का ऐसा कठिन क्लेश है कि दुःखी भी होते जाते हैं और उससे हटने की बात चित्त में नहीं आती। तो संसार का ऐसा स्वरूप जानकर जिन पुरुषों ने भोगों से, विषयों से, समागमों से, वैभवों से उपेक्षा करके अपने आपके अन्तः स्वरूप में अपने स्वभाव को निरखा है ऐसे पुरुषों ने निर्ग्रन्थ साधु बनकर अपने आत्मा में आत्मा को लगाने की तपस्या बराबर रखकर शुद्धि प्राप्त की और वे वीतराग अरहंत हुए। उन्हीं का नाम भगवान है।

अन्तर्भाव से प्रभुता के दर्शन का अवसर – भैया ? अनेकों को अपने आपके हित की बात रुचनी कितनी कठिन लग रही है, यह सब व्यामोह का प्रताप है। हमारा सत्सग उतना अधिक नहीं है। हम आत्मचर्चा आत्मध्यान के लिए उतना नहीं लगा करते हैं, इसका फल यह है कि कुछ थोड़े समय का धर्मध्यान वह भी ऊपरी तौर से रह जाता है, चित्त में ठेस नहीं पहुंच पाती कि मेरे को करने का काम केवल इस जीवन में स्वरूपरमण का है, अन्य कोई काम मेरे करने को नहीं है। इस प्रकार की तीव्र रुचि नहीं जग पाती। फल क्या होता है। जिन लोगों के लिए हमें अपने आपको धनी बनाना है, जिन लोगों की दृष्टि में अपने आपको भला जचाने के लिए विद्या पढ़ाना चाहते, अन्य-अन्य उपयोग के काम करना चाहते वे मायारूप हैं। न वे रहेंगे और न इस तरह का श्रम करने वाला रहेगा। फल क्या ? फल क्या है ? इस दुःखमय संसार में इन सब चेष्टाओं का फल जन्म-मरण है। यह सब जिनकी चिन्तना थी और इसी कारण समस्त बाह्य समागम वैभवों से

विरक्त हुए उन्होंने अपने आपकी प्रभुता का दर्शन पाया।

अन्तरूपयोग में आनन्द की उपलब्धि—जो आनन्द अपने आपके उस विशुद्ध चैतन्यस्वभाव के उपयोग में है वह आनन्द जगत में और कहां रखा है ? सब विपदा है, क्लेश है। मनुष्यभव में कितनी सहूलियतें हैं कि चूंकि यहां इष्ट वियोग होता है तो उनको चेतने का अवसर मिलता है किसी भी चीज को आप बहुत दिल से चाहें कि कभी भी वियोग न हो, धन वैभव कभी मिटे नहीं, परिजन इष्टजन कभी अलग न हों, और वे हो जाते हैं अलग। आपका वश चलता नहीं। बहुत-बहुत प्रयत्न करनेपर भी, कई बार हैरान होनेपर भी ये दुःख अनेक बार आते रहते हैं, तो आप यह समझ कर सकते हैं कि अब इनका हमें कुछ विचार ही नहीं रखना है, छोड़ें इस झंझट को, एकबार उनसे पूरा-पूरा मुख मोड़ लिया। परन्तु ये देवताजन कैसे अपना मुख मोड़ें ? इनको किसी का वियोग ही नहीं है। वियोग हुआ तो थोड़े समय बाद उसकी पूर्ति हो जाती है, जहां भोग सदा तैयार रहते हैं, उन देवतावों को वियोग के प्रसंग नहीं है इसीलिए उनमें संयम का होना असम्भव है। उनको मौका ही नहीं है कि अलौकिक आनन्द का वे लाभ कर सकें। तो ऐसा दुर्लभ जन्म पाया हम आपने जो देवताओं को भी दुर्लभ है, जिसे देवताजन भी तरसते हैं, ऐसे दुर्लभ जन्म को पाकर हम यह ध्यान में रखें कि हमारा एक-एक क्षण कीमती है। मेरा कोई भी क्षण व्यर्थ में न व्यतीत हो। ऐसा अगर संकल्प बनाओगे तो अपने आपमें अपना लाभ मिलेगा। अपना किसी दूसरे से फायदा नहीं पहुंचता। निज आत्मविषयक जो चिन्तन है उससे यह स्वयं लाभ ले लेगा। दूसरों को समझाने के लिए बड़ा भाषण करना भी दूसरों के लिए चाहे लाभदायक हो जाय, पर स्वयं के लिए क्या लाभ पाया ? यदि स्वयं एक इस सभा के रूप में अथवा जब कभी भी कुछ बोला-जा रहा हो उस बोल को स्वयं भी सुनकर स्वयं अपने आपमें अपने हित की बात को निरखता जाय और अपने लिए उस कर्तव्य को करता जाय

http://www.jainkosh.org

तो वह भी लाभ पायगा। जो करेगा सो लाभ पायगा। और जो इससे विमुख रहेगा वह संसार में रुलेगा।

प्रभुवत् अन्तर्धर्म के अनुसरण का कर्तव्य—जो प्रभु ने किया वही मुझे करना चाहिए, अन्यथा प्रभु की भक्ति क्या? प्रभु से द्वेष करते जायें और चित्त में यह बात न लायें कि प्रभु! कर्तव्य तो मेरा भी यही है जो आपने किया। क्या किया आपने? विषयभोगों को असार भिन्न समझकर उनसे उपेक्षा करके इन्द्रियों पर विजय पाकर मनको भी काबू में रखकर जो आत्मा का निरन्तर उपयोग बनाया है उससे आपने अपने आत्मा में प्रतिष्ठा पायी है। यह ज्ञानस्वभाव अमूर्त है। इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं, केवल ज्ञानमात्र चित्स्वभावमात्र, जिसकी अगर दृष्टि मिल जाय तो उस दृष्टि में फिर अन्य कल्पनायें नहीं रहतीं। ज्ञानमात्रोपयोगी के अन्य कल्पनाओं का क्या काम? उस दृष्टि में तो निर्भार एक चित्प्रकाश ही रहा करता है। ऐसे अमूर्त चित्प्रतिभासमात्र इस अमूर्त का दुनिया में कुछ है भी क्या? कैसे कोई हो सकता है? मूर्त का भी मूर्त कुछ नहीं हो सकता, फिर अमूर्त का कोई क्या होगा? कैसे होगा? कैसे लगेगा? तो इस ज्ञानमात्र अमूर्त मुझ आत्म-पदार्थ का दुनिया में कहीं कोई न रक्षक है न हितू है न कोई सुधार कर सकने वाला है। यह ही मात्र मैं अपने आपके अमूर्त चित्स्वरूप को समझलूं तो मेरा कल्याण है। इसके अतिरिक्त और धर्म में प्रारम्भ में कार्य ही क्या है? जो बात केवल विचार द्वारा साध्य है, केवल ज्ञान द्वारा साध्य है और जिसका फल इतना अलौकिक है कि जगत की जितनी बड़ी विभूतियां हैं वे सब इस धर्म के प्रसाद से मिलती हैं अर्थात् मुक्तिमार्ग की साधना करते हुए जो राग शेष रहता है उसका फल यह है कि चक्रवर्ती जैसी बड़ी-बड़ी विभू-तियां प्राप्त होती हैं, तो भला जो मात्र ज्ञान द्वारा ही साध्य है, जिसमें कोई कठिनाई नहीं है, किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है स्व है, स्व के लिए विचारना, स्वमें चिन्तना चलाना, जो किसी के आधीन नहीं है, ऐसा स्वाधीन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सुगम ज्ञानमात्र भी काम न किया जाय और अतुल अलौकिक लाभ से वंचित रह जायें तो इस गल्ती का फल भोगने कौन आयगा ? सर्वसमृद्धियां केवल ज्ञान द्वारा साध्य है। जानकारी बनाने में कठिनाई क्या आती है ? जो बात सामने है उसको हम वैसी सही जानलें तो इसमें कौनसी कठिनाई आती है ? जरा बाह्य पदार्थों से अपने दिलको हटाकर थोड़ा ही समझना है कि यह मैं क्या हूं ? तो इसकी जानकारी क्या कठिन हो जायगी ? सुगम है जानकारी, पर चित्त में ऐसी दृढ़ता आये कि मुझे तो अपने आपके स्वरूप को ही जानते रहना है, तब यह सम्पन्नता मिलेगी।

निःशङ्कितवृत्ति से आत्मस्वरूपज्ञान में लगने की आवश्यकता— स्वरूप को जानेंगे तो फिर बाहरी काम कैसे बनेंगे ? यह दुकान, ये घर के लोग, इनका पालन-पोषण इन सबको कौन करेगा ? ऐसी शंकित वृत्ति मत बनाओ। अरे जो पुरुष ऐसी भावना बनाये हुए हैं कि मेरे करने से ही ये घर के लोग पलते-पुसते हैं, मेरे करने से ही ये कारोबार, यह दुकान, ये सब चल रहे हैं उनमें इतनी पात्रता नहीं है कि वे अपने आपके स्वरूप का दर्शन कर सकें और अपने जीवन को सफल कर सकें। जो इस आत्मीय आनन्द पाने के लिए प्रयत्न करता है उसे ये सारी प्रतीतियां हैं। घर के जितने लोग हैं वे सब अपना-अपना भाग्य लिए हुए हैं, बल्कि मुझसे अधिक पुण्य का सम्बंध उनके साथ है तभी तो देखो ना—वे कुछ नहीं करते, मौज से रहते और आप पिलपिलकर परिश्रम करके कमाई करके उनको साधन दे रहे हैं। तो उनका भाग्य उनके साथ है। सबके कर्म उनके साथ हैं। उनके पालन-पोषण में कमी न आयगी, सब अपने आप चलेगी। कदाचित मेरे आत्मा में सदा के लिए स्थिरता हो जाय तो दुनिया में कोई किसी का परिणमन करने वाला तो नहीं है, मैं ही यदि अपना ऐसा विशुद्ध परिणमन कर जाऊं तो सदा के लिए शान्त हो जाऊं। यहां के लोगों की जिम्मेदारी मेरी नहीं है, मेरी जिम्मेदारी मुझ पर है। घर की जिम्मेदारी मुझपर नहीं है कौन ले सकता है घर की जिम्मे-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दारी ? आज जीवित हैं, पर कलके जीवित रहने की जिम्मेदारी आप ले सकते हैं क्या ? आपका उदय अनुकूल न रहा तो क्या आप जिम्मेदारी ले सकते हैं। शाम तक की भी तो कोई जिम्मेदारी नहीं ले सकता, पर सभी लोग अपने आपकी बात देखो अपने भीतर में जिम्मेदारी लिए बैठे हैं ? हम अपने आपके काम में लगें, अपने स्वरूपदर्शन में, अपने स्वरूपज्ञान में तो नियमतः हम सफल होंगे, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं। परके सम्बन्ध में, परकी बातों में परिश्रम करनेपर भी हमें सफलता मिले या न मिले, उसपर मेरा कोई अधिकार नहीं, लेकिन मैं अपना काम करता चलूं, अपने ज्ञान से अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप को निहारने चलूं, उद्यम करूं तो निहार लूंगा, उस काम में हमें अवश्य सफलता मिलेगी और सदा के लिए हमारे संकट टल सकेंगे। तो जो बात केवल ज्ञान द्वारा साध्य है, जिसमें सर्वत्र आनन्द ही आनन्द भरा हुआ है, जिससे हमारी पवित्रता बढ़ेगी, लौकिक जो ऊंची-ऊंची समृद्धियां हैं, ऊंचे ऊंचे पद हैं वे स्वतः ही प्राप्त होंगे। और, काम कितना करना है ? केवल अपने आपके स्वरूप में अपने ज्ञान को लेजाना है। और जितना यत्न बन सके उसपर अपनी दृढ़ता रखना है। यदि यह काम न हो तो आप समझ लीजिये कि हम कितना उल्टा रास्ते पर चल रहे हैं।

भगवत्स्वरूप स्मरण का प्रयोजन—भगवान के स्वरूप की याद किसलिए की जा रही है ? इसीलिए की जा रही है कि मुझे अपने स्वरूप की याद आ जाय और मेरा भी उच्च विकास हो सकता है, सदा के लिए संकटों से छुटकारा हो सकता है, ऐसा उत्साह बने, ऐसा हमारा प्रयत्न बने, इसके लिए भगवान की भक्ति है, भगवान का स्मरण है, मैं वह हूं जो भगवान है। ऐसा भीतर ही भीतर शाश्वत चैतन्यस्वरूप पर दृष्टि जायगी यहां और प्रभुस्वरूप के भीतर भी, तब विदित होगा कि इस शाश्वत चैतन्यस्वभाव की समानता लेकर यह कहा जा रहा है कि मैं वह हूं जो हैं भगवान। मजाक में यह कह सकते हैं लोग कि हम भी भगवान हो गए। अरे भगवान के स्वरूप

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

में जो पाया जा रहा है उस स्वरूप तक निगाह रखोगे तो पता पड़ेगा कि मुझ में भगवत्स्वरूप बसा हुआ है, किन्तु जैसे कोई यह बात सुनले कि दूध में दही है और वह यह मजाक करने लगे कि यह दूध भी घी बन गया। अरे समझने वाले लोग जानते हैं कि दूध में घी है और परख लेते हैं कि इस दूध में छटाक प्रतिसेर घी है और इस दूध में डेढ़ छटाक प्रतिसेर घी है, ऐसा लोग परख लेते हैं और उपाय करते हैं। और, उपाय द्वारा वे प्राप्त कर लेते हैं। दूध में घी हम आप आंख खोलकर देखें तो दिख जायगा क्या ? दूध से दही बनाकर उसे बिलोकर उसमें घी पा लिया जायगा। है घी दूध में मगर विधि होती है घी निकालने की, घी प्रकट करने की, लो प्रकट हो जायगा। इसी प्रकार मेरे आत्मा में है परमात्मस्वरूप, किन्तु उस वर्तमान परिणति को ही देखकर ऐसे देह वाला मैं हूं, ऐसी ही अपनी निगाह रखकर जो दुनिया को दिख रहा है वैसा ही मैं को समझकर कोई वहां यह मजाक करने लगे कि यह मैं भगवान हो गया, तो वे अपना ही मजाक कर रहे हैं, अपने को ही भ्रम में और मायाजाल में जन्म-मरण के गर्त में पटक रहे हैं। अरे भगवान निरखने की विधि होती है।

अन्तः संयमन विधि—मैं किस पद्धति से अपने को ले जाऊं कि मैं अपने आपके भगवानस्वरूप का अनुभव करूं। मेरे में स्वानुभव है जहां भगवत्स्वरूप का अनुभव किया जा रहा है। तो द्रव्यदृष्टि से पर्यायों की अपेक्षा न रखकर समस्त भेदज्ञानों से भी हटकर अपने आपके स्वरूप में जब विशुद्ध चित्सामान्य का उपयोग किया जाता है, उस उपयोग को हम समझ लेते हैं. अनुभव कर लेते हैं कि यह है परमात्मतत्त्व स्वरूप। अब व्यर्थ के जालों से हटना है और अपने आपके युक्तिमार्ग में लगना है, इसी से ही मेरा भला हो सकेगा, अन्य बातों से भला नहीं हो सकता। मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान। पहिले तो भगवान के अन्तः स्वरूप को निरखकर अपने आपका परिचय किया और अब अपने आपके अन्तः स्वरूप

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

को निरखकर भगवान के अन्तः स्वरूप का परिचय किया। बात यद्यपि एकसी है इस दृष्टि में, लेकिन जिसको जिसमें सुगमता बैठे वैसा करे। अपने स्वरूप का परिचय पाकर भगवान के स्वरूप का परिचय पायें यह भी ठीक है। भगवान के स्वरूप का परिचय पाकर अपने आपके स्वरूप का परिचय पायें यह भी ठीक है। लेकिन ये दो रास्ते बिल्कुल प्रथक्-प्रथक् नहीं हैं। दोनों ही बातें प्रत्येक बात में पायी जाती हैं। केवल एक मुख्यता और गौणता की बात है। जो पुरुष अपने स्वरूप का परिचय पाकर भगवान के स्वरूप का परिचय पा रहा है, उसे भी भगवान का परिचय उपाय में प्रयोगात्मक लेने से पहिले भी था। जो पुरुष भगवान के स्वरुप का परिचय पाकर अपने स्वरुप का परिचय पा रहा है उस पुरुष को भी भगवत्स्वरुप परिचय से पहिले भी अपने आत्मा के स्वरुप का परिचय था। केवल एक मुख्य गौण की बात है। इन दो पद्धतियों में से किसी भी पद्धति को अपनायें, अपने अन्तः स्वरुप और प्रभु के अन्तः स्वरुप में कोई भेद नहीं है। अतएव ज्ञानी का यह निर्णय है कि "मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान।"

अन्तस्तत्त्वतर्पण से प्रभुसाम्यभावना की सफलता—मैं वह हूं जो हैं भगवान, और जो मैं हूं वह भगवान हैं, ऐसा निर्णय करने का परिणाम यदि यह न निकले कि मैं अपने सहज शुद्ध ज्ञानस्वभाव को निरखकर मैं उस ही में तृप्त रहा करु, यदि ऐसी वृत्ति की प्रेरणा नहीं मिलती और न ऐसा होने का भाव बनता है तो मैं भगवान हूं। भगवान हूं यह कहना केवल मजाक जैसा है, अथवा लोगों में अपना बड़प्पन बताना है। भगवत्स्वरूप को जानकर भगवान का परिणमन स्वभाव के अनुरूप हैं, उस परिणमन के द्वार से भी भगवान के उस चैतन्यस्वभाव तक पहुंचकर चूंकि चैतन्यस्वभाव तक उपयोग पहुंचने में व्यक्ति छूट जाता है और वह उपयोग साधारण रह जाता है तो स्वयं के स्वरूप का वह उपयोग करने लगता है और उस समय जो इसे सहज ज्ञानस्वभाव के दर्शन हुए उसको निरख-निरखकर उसमें लीन होने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

का जो इसने उत्साह बनाया उसका आनन्द पाता हुआ यह ज्ञानी अपना दृढ़ निर्णय बना लेता है कि इस जीवन में जीकर करने का काम बस एक यही है, दूसरा कोई काम ही नहीं है जिससे कि हमारा जीवन सही जीवन कहलाये। अन्य बाह्य पदार्थ विषयक जितने कार्य हैं वे सब कार्य अत्यन्त असार हैं, जिनमें सार का नाम भी नहीं है। क्या है? सिवाय ६ कामों के और क्या काम हो सकता है? ५ इन्द्रिय के ५ विषय और एक मनका विषय। सिवाय ६ के और दुनिया में कार्य ही क्या हो सकता है? ये सब असार हैं। सार मात्र सहजपरमात्मतत्त्व का दर्शन, प्रत्यय व अनुभवन है।

सर्व आत्माओं में कारणपरमात्मतत्त्व की समानता—जब स्वभावदृष्टि से अपने आपको निरखते हैं तो आत्मा व परमात्मा में कोई भेद नजर नहीं आता। और, समस्त जीवों को भी देखते हैं तो सब जीवों में और अपने में भी भेद नजर नहीं आता। देह के भेद से जीव में भेद हुआ ऐसा उस ज्ञानी की दृष्टि में नहीं है। सर्व जीवों में वह सहज कारणपरमात्मतत्त्व शाश्वत प्रकाशमान है। इसको कारणपरमात्मा शब्द से यों कहते हैं कि परमात्मतत्व की व्यक्ति इस ही स्वभाव से होती है। जैसे घड़ा मिट्टी से बनता है। कोई यह कहे कि घड़े का कारण मिट्टी है और कोई यह कहे कि घड़े का कारण मिट्टी नहीं है, किन्तु वह पिण्ड है जो चक्रपर रखा गया तैयार है, तो इन दोनों के कहने में अन्तर आया? एक ने कही समुचित उपादान वाली बात और दूसरे ने कही ओघ उपादान वाली बात। मेरुपर्वत की जड़ के नीचे जो मिट्टी है उसमें घड़ा बनने की शक्ति है या नहीं? है, पर उससे घड़ा बन सकेगा क्या? उसकी कुछ सम्भावना नहीं है, लेकिन घड़ा बनने की शक्ति उसमें भी कही जायगी क्यों कि वह उस जाति का द्रव्य है। जिस जाति की मिट्टी यहां है, और, उसके प्रयोग से घड़ा बनते देखा गया है। तो जब उस ही जाति की मिट्टी मेरुपर्वत के जड़ के नीचे है, तो क्यों नहीं घड़ा बनने की शक्ति है? और, यहां की जो खान में या कहीं मिट्टी है उसमें भी घड़े का

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कारणपना है, तो इसी प्रकार जो वीतराग अवस्था है, १२वें गुणस्थान वाली अवस्था है वह तो है समुचित उपादानभूत कारण परमात्मा और सभी जीवों में जो बसा हुआ अनादि अनन्त अन्तः प्रकाशमान चैतन्यस्वभाव है वह है ओघ उपादानरूप कारण परमात्मा।

आत्मोपादान की विशिष्टता—भैया! अन्य पदार्थों से उपादान वाली तुलना होनेपर भी एक विशेषता खास और है यहां, जो उन पुद्गलों में नहीं पायी जाती। पुद्गल में तो कार्य अवस्थायें बाहरी कारणकलाप अनेक मिल करके होती हैं। मिट्टी में स्वयं में अपने आप ऐसी बात नहीं है कि वह निमित्तकारणकलाप के सन्निधान बिनाअपने में घड़ा पर्याय बनाले, अर्थात् निमित्त कारण संयोग बिना बन सके सो बात नहीं हैं। लेकिन, इस आत्मा में ऐसी सामर्थ्य है कि अपने आपमें अनादि अनन्त बसे हुए कारणपरमात्माका आलम्बन करें, दृष्टि करें तो यह कार्यपरमात्मा प्रकट हो जाता है। पुद्गल के कार्य में और आत्मा के इस कार्यपरमात्मा के होने में अन्तर भी बहुत है। पुद्गल की दशायें एकबार कोई शुद्ध होकर भी अशुद्ध हो जाता है पर आत्मा की अवस्था एकबार शुद्ध होने पर अशुद्ध नहीं होती। पुद्गल की दशायें कुछ भी हों, अचेतन होने के कारण उसमें उत्कृष्टता नहीं है और इस बेतन आत्मा में चेतने के कारण उत्कृष्टता है। यह सर्वज्ञ बनता है।

उद्दण्डता से उत्कृष्ट और सुगम कार्य में बाधा—समझलो भैया! इतना बड़ा उत्कृष्ट कार्य है भगवान बनना, कार्यपरमात्मा होना, ऐश्वर्यवान होना, और, उसकी कुञ्जी इतनी सुगम है कि बस विकल्पों को छोड़कर अपने आपमें नित्य अन्तः प्रकाशमान सहज कारण परमात्मतत्त्व की दृष्टि तो करें और वहीं रहा करें। ज्ञान को ही तो वहां रखना है। कोई कठिनाई तो नहीं। तो इतना स्वाधीन सुगम काम और जिसका फल इतना उच्च कि तीन लोक में उससे अन्य कुछ उच्च नहीं, और वह नहीं किया जा सक रहा है तो इसको अन्धेर की ही बात कही जायगी, उद्दण्डता की ही बात

http://sahjanandvarnishastra.org/

कही जायगी। हम सब लोग स्वयं अपने आप ऐसा उद्दण्ड बन रहे हैं कि अपने आपमें विराजमान कारण परमात्मतत्त्व की सुध नहीं लेते, और जिसका कि फल भी बड़ा उत्कृष्ट है, और लग रहे हैं कुटुम्ब में, वैभव में, लोगों के बीच इज्जत के बनाने में। कंचन, कामिनी और कीर्ति इन तीन में सबकी बात आ जाती है। कंचन में सारे वैभव लगालो, कामिनी में सभी काम लगाओ, स्पर्शन इन्द्रियां और सभी इन्द्रियों के विषय और कीर्ति में मन की बात लगाओ। इन्हीं में उलझे हैं, और स्वयं जो कुछ है सहज, उसका अवलोकन नहीं करना चाहते, तो यह इस जीव के लिए कितनी विषाद वाली बात है। तो वह कारण परमात्मस्वरूप, वह सहज चैतन्यस्वरूप सर्वत्र एक है, एक समान है, एकरस है, पर्यायकृत अन्तर हो गया है, पर स्वरूप में भेद नहीं है।

सर्वजीवों से समानता होनेपर भी प्रभुसमानता की दृष्टि किये जाने का रहस्य—ज्ञानी जीव जहां यह निरख रहा है कि मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान, वहां यह भी देख सकते हैं कि जगत के जितने जीव हैं जैसे वे सब जीव हैं तैसा मैं हूं, जैसा मैं हूं तैसे सब हैं, पर इस तरह के उपदेशों की मुख्यता क्यों नहीं है? जैसे प्रभु में अपनी बात लगाते हैं अधिकतर कि जो आत्मा सो परमात्मा। ऐसी बात संसार के इन सब जीवों के साथ क्यों नहीं लगाते कि जो मैं सो ये हैं, जो ये सब सो मैं। इसका कारण यह है कि परमात्मा का परिणमन और स्वभाव एक हो गया है। और, संसारी जीवों का परिणमन और स्वभाव अभी एक नहीं है। सब जीवों का स्वभाव है ज्ञान और आनन्द, किन्तु सहज ज्ञानानन्दपर बीत क्या रही है। विपरिणमन क्यों हो रहा है? कितनी आकुलता, कितना खेद। तो ऐसे विपरीत परिणमन वाले जीवों में जीव के स्वभाव की निरख सुगमतया न हो पायगी, किन्तु जहां परिणमन भी शुद्ध है ऐसे परमात्मास्वरूप को निरखकर स्वभाव की निरख सुगमतया हो जाती है, एक कारण तो यह है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

दूसरा कारण यह है कि परमात्मा की उपासना में यह भी ध्यान रहता है कि आखिर शुद्ध होकर यह दशा मिला करती है, यह अवस्था हुआ करती है। जिसे कहते हैं—निरुपाधि स्थिति। उपाधिरहित स्थिति और उपाधिरहित स्थिति ही हितरूप है, और अन्तिम विकास है, यही ग्रहण करने योग्य है। यह भी दृष्टि रहती है इसलिए समस्त प्रयोजन प्रभु के स्वरूप और अपने स्वभाव की तुलना में आ जाते हैं।

सर्वजीवों में सहज परमात्मतत्त्व की प्रतीति से तात्कालिक लाभ—यदि कोई ज्ञानी पुरुष जगत के जीवों को भी निरखकर पर्याय में दृष्टि न अटकाकर स्वभाव को देखे और उस स्वभावदृष्टि से उन सबका ज्ञान करे, उपयोग करे, अपना अन्तर्व्यवहार बनाये तो लाभ यहां भी हो सकता है। किसी के भी अपराध का झट क्षमा कर सकना, किसी के द्वारा किए गए उपद्रव में दृष्टि न होना, इन सब बातों के लिए यह भी कारण पड़ जायगा कि हम सब जीवों को स्वभावदृष्टि से यों निरखें कि हैं तो वे सब ऐसे सहज कारण परमात्मस्वरूप। यदि इसने गाली दी है, उपद्रव किया है, उपसर्ग किया है तो मूल में इस पदार्थ का अपराध नहीं है। उपाधि ऐसी है, करतूत ऐसी है, परिणति ऐसी बनी है कि जो यह कषायभाव का परिणमन बन रहा है। मूल में शुद्ध चैतन्यस्वभाव को निरखने से उसके प्रति क्षमाभाव आता है। इसी आधार को कहते हैं एक अद्वैतस्वरूप। जहां देखो वहां यह ही चैतन्य-भाव दृष्टि में रह जाय तो फिर उस ज्ञानी का संसार से छुटकारा पाना अत्यन्त निकट है। शीघ्र ही संकटों से यह तत्त्वज्ञानी छूटेगा।

आत्महित की प्रेरणा पाने का लक्ष्य बनाने का अनुरोध—भैया! हम दूसरे का गुणगान भी बहुत करें, किन्तु उससे अपने आपमें कोई प्रेरणा न लें तो अपने लिए कुछ नहीं रहा। जैसे भोजन का गुणगान खूब करें, अच्छा बना है, पाचक है, स्वादिष्ट है और उसका प्रयोग कुछ न करें, खायें पियें कुछ नहीं तो ऐसा मनुष्य तो यहां कोई न दीखेगा। तो यों ही हम प्रभु-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भक्ति करें, गुणगान करें, धर्म के नामपर बड़ी उपासनायें करें, समय लगायें, पर अपने बारे में कुछ भी विचार न जगायें तब समझिये कि उस मनुष्य की तरह ही मूर्खता है कि भोजन तैयार भी करे और गुणगान भी करे, पर रहे भूखा ही भूखा। हमारी अन्तः यह भावना बनना चाहिए कि यह मनुष्यजन्म बड़ी कठिनाई से मिला है। मानो पशु-पक्षी होते, कीड़ा-मकोड़ा बनस्पति होते तो यहां मुझे कौन जानता ? जिस रूप में भी मुझे लोग जान रहे हैं वह मैं हूं ही नहीं। अब भी अगर न चेते और ऐसी ही दशायें मिलीं, तब इस मनुष्य जीवन के पाने का लाभ क्या उठा पाया ? रहे तो आखिर वैसे के ही वैसे। बाहर में कुछ भी काम बिगड़े सुधरे, थोड़ा-बहुत तो वहां गृहस्थावस्था में चित्त जायगा ही लेकिन उसको इतना महत्त्व न देना कि जिसमें अपने आपके कर्तव्य की बात भी भूल जायें। अब मुख्य काम यह है कि विषयों से विरक्त रहना और अपने सहजस्वभाव की प्रतीति और दृष्टि रखना। सबसे अधिक मुख्य एक यही काम है, दूसरा है ही नहीं। ऐसी बात श्रावक अवस्था में भी, गृहस्थी के फंसे हुए बन्धन वाली अवस्था में भी कोई मनुष्य रखे तो उसमें कौन बाधा देता है ? स्वयं ही कायर बनकर बाधक बन रहा है।

अन्तस्तत्व के ध्यान से सर्वसमग्रता—परम विशुद्ध कार्य परमात्मत्व की प्राप्ति में मुख्य कारण अन्तर्दृष्टि है। यद्यपि श्रेष्ठ मनुष्य होना चाहिए, उत्कृष्ट संहनन होना चाहिए, ये सब बातें भी आवश्यक हैं, बज्रवृषभनाराचसंहनन मिले बिना किसी का मोक्ष नहीं हुआ, फिर भी बज्रवृषभनाराचसंहनन वाले सभी मोक्ष गए सो तो नहीं। जिसका संहनन मजबूत है, हड्डियां बज्र की तरह हैं, ऐसा पुरुष मोक्ष जा सकता है, ऐसा ही पुरुष ७वें नरक में जा सकता है। जिसका शरीर मजबूत नहीं संहनन मजबूत नहीं वह पुरुष ७वें नरक नहीं जा सकता है। तब फिर बात तो अन्तर्ध्यान की रही। जिसका अन्तर्ध्यान उज्ज्वल बना, ज्ञानस्वरुप में जिसका उपयोग बैठता गया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

उसको मुक्ति हुई, पर इस अन्तर्ध्यान के बनने में मनकी प्रबलता चाहिए और मन प्रबलता से एक ओर लगा रहे इसके लिए साधना भी चाहिए। यों परम्परया सहयोगी कारण है, परन्तु इतने कारण होने के नाते इसपर दृष्टि लगाई जाय तो कारण भी नहीं रहा, फिर तो परदृष्टि होगई। फिर तो आत्मध्यान की पात्रता खतम हो गई। तो किस ओर ध्यान बनाये रहना चाहिए कि परम्परया सहयोगी साधन भी जो मिलने होंगे सो मिलते ही जायेंगे, उन सहयोगी अत्यन्ताभाव वाले पदार्थों पर दृष्टि नहीं रखना है। ऐसा तत्त्व क्या है? वह है यही कारण परमात्मतत्त्व आत्मा का शुद्ध चैतन्यस्वभाव।

सर्वविधानों का परिचय होनेपर भी ज्ञानी का आलम्ब्य शरण तत्व—शुद्ध स्वरूप के प्रकट होने में कर्मों का क्षय भी निमित्त है। और, इस अन्तर्ध्यान के समयों में कर्मों में भी संक्रमण, निर्जरण, स्थितियों का घटना, अनुभागघात आदि अनेक काम होते हैं जिनका करणानुयोग में वर्णन हैं। जिनका प्रमेय बहुत अधिक है। होता है सब, लेकिन स्वरूपदृष्टि से देखो कि कर्मों में जो कुछ यह अवस्था बन रही है वह कर्मों में कर्मों के ही उपादान से बन रही है। और, उस स्थिती में यहां आत्मा में जो निर्मलता प्रकट होती है वह आत्मा में आत्मा के उपादान से प्रकट हो रही है। परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध होनेपर भी स्वरूप-चतुष्टय जुदा-जुदा है। तो शिक्षा की बात तो यहां यह है कि जान तो लें सब विधियां, निमित्त आश्रय, स्थितियां, परन्तु लक्ष्य, दृष्टि, आलम्बन, शरण, एकमात्र आश्रय होना चाहिए आत्मा के उस उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूप का। और इस विधि से फिर यह जीव राग से दूर होगा और इसके ज्ञान का परिपूर्ण विकास होगा।

परमार्थ आत्मतत्व के कीर्तन से आत्मोद्धार की प्रेरणा—जब यह सोचा जा रहा है कि मैं वह हूं जो हैं भगवान, तो यहां एक द्रव्य दृष्टि से स्वरूप की तुलना की जा रही है। जाति उपेक्षा पदार्थ में अन्तर नहीं है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

और जब जगत के जीवों को निरखकर भी देखा जाय कि जो मैं हूं सो सारा विश्व है, जो सारा विश्व है सो मैं हूं तो यहां कोई संग्रहनय की बात नहीं कही जा रही है, किन्तु उस ही स्वभावदृष्टि के बल से इस सहज परमात्म-तत्त्व की ही बात की जा रही है। हम आत्मा को तो जानते हैं और इसका कीर्तन भी करते गुणानुबाद भी करते, कीर्तन किए बिना कोई मनुष्य रह नहीं पाता। कोई स्त्री के आगे शेखी मारता है, अपनी बड़ाई करता है तो वह अपना कीर्तन ही तो कर रहा है। कोई समाज में बैठकर अपनी शेखी मारता है, अपनी बड़ाई करता है तो वह अपना कीर्तन ही, तो कर रहा है। चोर-चोर अपने गुट में रहते हुए अपनी विशेषता की बात कह रहे हैं तो वे अपना कीर्तन ही तो कर रहे हैं। तो कीर्तन किए बिना कोई रह तो नहीं पा रहा है, किन्तु यह कीर्तन मिथ्या है, व्यर्थ है, अनर्थ है। लाभ की तो बात ही नहीं, हानि ही हानि होती है। मनुष्यभव के ये दुर्लभ जीवन के क्षण एकदम गुजरते चले जा रहे हैं और यहां लग रहे हैं पर्याय के कीर्तन में तो यह कितना भूल में, कितना गर्त में यह जीव जा रहा है। यह कीर्तन मिथ्या है। कीर्तन करिये अपनी दृष्टि में अपने लिए, अपने आपके ही आनन्द के लिए, अपनी ही तृप्ति के लिए। अपने आपके स्वरूप को निरखकर गुप्तरूप से कीर्तन करते रहिये। लोग कहते हैं।

आत्मगुण के अधिकीर्तन से लाभ उठाने का ध्यान—शास्त्रों में लिखा है कि अपने गुण अपने मुंह से नहीं कहने चाहिए। इसमें मर्म क्या है? सीधी बात है। अपने गुण अपने आप बखान देने से गुणों की प्रगति में कमी आ जायगी। आप अनुभव करके देखो, उस गुण में उस विशुद्धि में वह प्रगति न रहेगी, वह शक्ति न रहेगी। लेकिन आत्मा का जो यह शुद्ध गुण कहा जा रहा है, चित्स्वरूप की बात कही जारही है इसका वर्णन करने से बखान करने से गुण में प्रगति होती है और साथ ही यह भी जानो कि कोई बाधा भी आजाती, आत्मा के सहज स्वाभाविक इन शुद्ध गुणों का भी वर्णन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

करने से, हानि तो यह है तुरन्त कि हमारा अभी व्यवहार बन रहा है, हम अपने आपमें डूब नहीं पा रहे हैं, लेकिन यहां भविष्य में मेरे विरुद्ध अन्तर डाललें, इतना अन्तर नहीं डाल सकता आत्मगुणकीर्तन, पर जहां पर्याय का लगाव रखकर आत्मगुणकीर्तन हो तो उससे गुणों में बाधा आती है, फिर भविष्य में भी विकास नहीं होता। इससे कर्तव्य तो यह कि गुप्त ही गुप्त अपने आपमें अपने ही रस का घूँट पीते हुए तृप्त रहें। किसी से प्रयोजन क्या ? कोई मेरा रक्षक है क्या ? कोई मेरा उत्तरदायी है क्या ? मेरा तो लोक में कहीं कुछ नहीं है। केवल मैं ही हूं। अपने भाव सम्हालूँ, अपना ज्ञान सम्हालूँ, अपने ज्ञान का, अपने स्वभाव का प्रयोग बनाये रहूं तो मेरा उद्धार है। और परविषयों में रति करुं, आसक्ति करुं, लिप्त होऊं, तो प्रकट मेरी दुर्दशा है, जो जीव लोक में हो रहा है, जो संसार में दिख रहा है, फिर तो वही भर रहेगा। इससे यह बहुत बड़ा उपार्जन होगा, आपकी बहुत बड़ी कमाई होगी कि हम अपने सहजस्वरूप की दृष्टि करलें।

जीव स्वभाव के अनुशीलन का यत्न—भैया ! दूसरों के प्रति विरोधभाव को छोड़कर अपने परिजन में, अपने स्वार्थ में, अपनी आसक्ति न रखकर मोहकल्पित परिजनों के अतिरिक्त अन्य जीवोंपर भी कुछ आत्मीयता की बात जगायें, उन्हें भी कुछ समान समझने लगें, थोड़े ऐसे कर्तव्य करते रहना चाहिए, इसमें चाहे थोड़ा द्रव्य भी खर्च हो दूसरों के उपकार में तो यहां शिक्षा तो मिलेगी कि परिजन ही मेरे सब कुछ नहीं है। जैसे ये जीव हैं वैसे ही जगत के अन्य सब जीव हैं। और फिर धन की तो बात यह है कि कोई कमा कमाकर जोड़ले, यह किसी के हाथ की बात नहीं हैं। वह तो उदयानुसार आता है। तो कुछ ऐसी वृत्ति बनायें कि जहां अपने कुटुम्बपर मानलो ५०० रुपये खर्च हो रहा है तहां अपने पड़ोसी गरीब भाइयों के पीछे या अन्य-अन्य दुःखीजनों के पीछे कुछ खर्च लगादें, तो उनकी मदद करने के इस भाव से भी ऐसी बात मिलेगी कि जैसे ये हमारे घरके थोड़े से लोग हैं

http://sahjanandvarnishastra.org/

वैसे ही तो ये सब जीव हैं। ये ही मेरे सब कुछ नहीं हैं। होते संते की बात कही जा रही है। कहीं यह नहीं कहा जारहा कि धन नहीं है और ऐसा न कर सके तो धर्म नहीं किया। अरे धर्म तो आत्मदृष्टि का नाम है, स्वभावदृष्टि का नाम है, और वह स्वभावदृष्टि हमारी तब ही बन सकेगी जब परिजनों में घनिष्टता न रहे।

विषयविरक्ति और आत्मानुभूति से प्राप्त दुर्लभ क्षणों की सफलता—विषयों से विरक्ति हो और आत्मस्वभाव की दृष्टि हो तब तो उद्धार है, अन्यथा मनुष्यभव पाया न पाया, एक ही बात है, कोई अन्तर नहीं। क्योंकि अब तक अनन्ते ही भव पा लिये और उनमें मनुष्यभव भी पाया होगा, पर लाभ कुछ न पाया। इससे अपना एक मुख्य लक्ष्य बनायें, विषयों से विरक्ति और आत्मस्वभाव में दृष्टि। इस प्रगति से हमारा जीवन चले तब तो जीवन सफल है और इसके विरुद्ध, आत्मस्वभाव से उपेक्षा और विषयों में अनुरक्ति हो तो यह बात तो पशुपक्षी आदि-आदि सभी में पायी जाती है। उससे मनुष्यभव पाने का लाभ कुछ न पाया। लो हम आप यह सोचें कि मैं वह हूं जो हैं भगवान। इससे प्रेरणा यही तो मिलती है—विषयविरक्ति और आत्मानुभूति। इनके बल से ही यह चैतन्यपदार्थ निर्दोष होकर, विकसित होकर वीतराग सर्वज्ञ हुआ है, वही मैं हूं। यह प्रेरणा मिलती है और उसके कारण समय आयगा कि जो आज प्रभु में और मुझमें अन्तर है वह अन्तर भी न रहेगा।

प्रभु में और स्वयं में ऊपरी अन्तर—स्वरूपदृष्टि के मार्ग से गमन करके यह उपयोग जब प्रभु के स्वरूप और अपने स्वरूप में तुलना का, समानता का अनुभव करके कुछ तृप्त होता है उस तृप्ति के बाद जब कुछ अस्थिरता के कारण वहां से हटता है तो हटनेपर निरखता है—ओह ! यहां तो अन्तर पाया जारहा है। हम अभी कैसा स्वरूपामृत का पान कर रहे थे। कुछ भेद ही नहीं सोचा जारहा था कि मैं अन्य हूं, प्रभु यह है, केवल एक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

स्वरूपदर्शन हो रहा था। इससे यह निर्णय किया गया था कि "मैं वह हूं जो हैं भगवान", किन्तु पर्याय के निरखनेपर तो यह समझ में आ रहा है— "अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान।" यहां तो अन्तर है, लेकिन यह अन्तर अन्तः स्वरूप में नहीं है, स्वरूपकृत नहीं है, किन्तु ऊपरी है। यहां ऊपरी शब्द का अर्थ है कि स्वभाव के साथ तादात्म्य रखने वाला अन्तर नहीं है। वस्तु के स्वरूप में स्वभाव में अन्तर नहीं, किन्तु यहां राग होने का अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर कि प्रभु तो विराग है और यहां राग का फैलाव है। "वे विराग यहं रागवितान" इस अंस में यह शब्द न बोलना चाहिये—जैसे "वे विराग यहं रागवितान", किन्तु यहां एक राग का आधारमात्र सूचित किया गया है कि यहां राग का फैलाव है, रागवितान यहां है। यह मैं रागरुप नहीं हूं। यह रागवितानरुप नहीं है आत्मा, किन्तु यहां आत्मापर राग का फैलाव बन रहा है। यह राग मैं नहीं हूं, मेरा स्वरुप नहीं है, क्योंकि राग सहेतुक कादाचित्क है। जो कादाचित्क होता, कभी होता कभी नहीं होता, वह सहेतुक होता है, और जो सहेतुक होता है वह अपना स्वरुप नहीं कहा जा सकता।

राग की नैमित्तकता और अस्वरूपता—इस रागभाव में बड़े-बड़े अन्तर और विषमता के साथ होने वाले राग कादाचित्क नजर आते हैं। कभी क्रोध है, कभी मान है, कभी माया है, कभी लोभ है, कभी किसी प्रकार का राग है, कभी कम राग है, कभी ज्यादह राग है, ऐसा होने का कारण क्या है? इसका कारण है कि राग सहज नहीं है। मेरे आत्मा में आत्मा के स्वभाव से, स्वरुप से राग चल रहा हो ऐसी बात नहीं है। इसका कारण है, और वह निमित्त कारण है। कई लोग राग का उपादान कारण कर्म को मानते हैं। यदि राग का उपादानकारण कर्म हो तब तो बहुत बड़ी सुविधा हमें मिल गई। जब भी दुःखी हों तो कर्म हो, रागी हों तो कर्म हों, फिर हमपर क्या आपत्ति? फिर मोक्षमार्ग किसलिए हम अपना बनायें? राग का

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उपादान ह आत्मा है—"यहं रागवितान", किन्तु इसका निमित्त कारण कर्म है। निमित्त कारण हमेशा अत्यन्ताभाववाला होता है, लेकिन उसके उपादान में उत्पन्न हुए कार्य के साथ अन्वय व्यतिरेक का सम्बंध पाया जाता है। जैसे क्रोधकषाय हुई तो क्रोधप्रकृति नामक कर्म के उदय होनेपर ही हो सकती है। और क्रोधप्रकृति कर्म के न होनेपर नहीं हो सकती है, ऐसा अन्वय व्यतिरेक सम्बंध जीव के कषाय का कर्म के साथ है। लेकिन कर्म में अत्यन्ताभाव है जीव के परिणाम का, जीव के स्वभाव का, जीव के सद्‌भाव का। कर्म जुदे हैं और आत्मा जुदा है, पर कर्म का निमित्त पाकर आत्मा में कषायभाव जगा है। यह कषाय मेरा स्वरुप नहीं है।

कल्पनाओं के त्याग में ही कल्याण—भैया ! यह जगत केवल कषायों से परेशान हो रहा है। बाह्य वस्तुवों से परेशानी नहीं है। बाह्य पदार्थ तो वे सारे जैसे आपके लिए बाह्य हैं तैसे ही हमारे लिए बाह्य हैं। आपका मकान जैसे और प्राणियोंकेलिये गैर है, बाह्य है, निराला है, इसीप्रकार आपसे भी निराला है। तो निराली चीज से औरों को तो दुःख नहीं होता, सुख नहीं होता। तो ऐसे ही निराले मकान से आपको भी सुख-दुःख नहीं है, किन्तु उसमें जो कल्पना लगा रखी उससे सुख-दु,ख होता है। बड़े-बड़े महंत पुरुषों ने इस रहस्य को जाना था कि कल्पना बेकार की चीज है, कल्पना में कोई सार नहीं है और असार कल्पनाओं से ही यह संचारचक्र चल रहा है, अतएव कल्पना के त्याग में और कल्पना के विषभूत छह खण्ड के वैभव के भी त्यागने में उनको रंचमात्र कष्ट नहीं होता। यहां तो थोड़ा बहुत त्याग करने में बड़ा कष्ट होता है। अरे, इतने रुपये तो मुझसे चले गए, अब हमारा कैसे जीवन चलेगा ? जिन महापुरुषों ने कल्पनाओं को असार जाना, और कल्पनाओं से जीव की परेशानी है, ऐसा रहस्य समझा, वे कल्पनाओं का त्याग करते हैं। वे नहीं चाहते कल्पनायें, क्योंकि कल्पनाओं के ही आधारपर बाह्य पदार्थों का लगाव बना हुआ है। कल्पनायें छूट जायें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तो बाह्य पदार्थों से कौन लगाव लगायेगा ? तो ये सब कल्पनायें सारहीन हैं, ऐसा जानकर कल्पनाओं का त्याग किया कि बेड़ा पार हुआ।

कल्पनाओं को त्यागकर सत्य विश्राम लेने का अनुरोध— यहां तो लोग कल्पनायें करके दु,खी हो रहे हैं। न चीज अपनी बनती है और न कल्पनायें छोड़ी जाती हैं। दोनों बातें एक साथ मिली हुई हैं। चीज अपनी बन जाय तो कुछ चलो कल्पना का मौज तो लिया जाय। तो कोई चीज अपनी बनती नहीं और न कल्पनायें छोड़ी जाती हैं, जिसके कारण लोग बहुत परेशान हो रहे हैं। यह स्थिति है मोही जीवों की। और, उन बाह्य पदार्थों की धुन में इतनी आसक्ति बना रखी है कि दिन-रात में किसी भी मिनट तो विश्राम नहीं ले पाते। जैसे लोग थक जाते हैं तो वे कुछ न कुछ विश्राम करते हैं। कोई बड़ा आवश्यक काम पड़ा हो, कह देते कि अरे यह काम तो अब पीछे होगा, पहिले विश्राम करलें। तो थक जानेपर लोग दो-चार घंटे विश्राम तो लेते हैं लेकिन उस विश्राम में भी विश्राम नहीं है। क्योंकि दिल की दौड़, ख्याल की घुड़दौड़ इतनी तेज लग रही है कि दिल में चैन नहीं है। जब दिल थक जाता है कषाय करते-करते, इच्छा करते-करते, परको मनाते-मनाते, तो इस दिल को विश्राम देना चाहिये। दिल का विश्राम यही है कि यह सोचलें कि अब मुझे कुछ नहीं सोचना है। सोचने से दिल थक गया। दिल का थकान मेटने का उपाय सोचने का काम मिटाना है। जैसे किसी काम के करते-करते शरीर थक गया तो शरीर की थकान मिटाने का उपाय प्रथम तो यह है कि उस काम का करना बन्द करदें। जब सोच-सोच करके हमने अपने दिल को थका डाला, परेशान कर डाला, तो सोचने में सार तो कुछ है नहीं। जगत के किस पदार्थ का सोच किया जाय कि वह पदार्थ मेरे आत्मा का सच्चा साथी बन जाय ? कुछ भी नहीं है ऐसा, तब फिर सबका सोचना एकसाथ बन्द किया जाय तो वह होगा दिलका विश्राम।

कषायोद्भूत परेशानी का मौलिक विवरण— जगत कषायों से

Version 1

परेशान है। इसमें प्रथम बात तो यह है कि ये कषायें मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा स्वरूप नहीं है। मैं हूं विशुद्ध ज्ञानानन्दमय। अपने आपका जो सहज ज्ञानानन्दस्वरूप है वह स्वरूप जिस किसी भी प्रकार प्रयत्न करके अपने उपयोग में आये, अपना सहज परमात्मतत्त्व स्वरूप ज्ञान में आ जाय, यह बात यदि आपके, हमारे किसी भी प्रकार बन जाय तो समझिये कि इसमें बढ़कर फिर अन्य कुछ भी उत्कृष्ट कार्य नहीं है। यह चेतन अचेतन का समागम तो अध्रुव है। कभी कुछ हो, कभी कुछ बिगड़े, कभी कुछ नष्ट हो, और फिर ये सब अपने आधीन हैं नहीं कि हम जैसा सोचें तैसा ये बनकर रहें। तब फिर इतनी श्रद्धा तो अवश्य बनाये ही रहें कि जो कुछ भी चीजें मिली हैं उनमें सार कुछ नहीं है, और उनसे मेरा पूरा न पड़ेगा, मेरा भला न होगा। जन्म के बाद मरण, मरण के बाद जन्म, ये सब चक्कर चलते ही रहते हैं। हम इस जन्म में बड़ा राग बनायें, ठाठ जमा जायें, अच्छा रहने का मकान, अच्छे ढंग के व्यवसाय, आय भी होती रहे, इज्जत भी रहे, जिसे लोग मौज कहते हैं, मौज के कितने ही साधन बना लिए जायें, पर उनसे उठता क्या है ? प्रथम तो इस ही भव का विश्वास नहीं कि जीवन के अन्त तक ऐसी ही मौज बनी रहे, और फिर मरण के बाद तो एकदम फैसला हो ही जाता है। चाहे यहां कितना ही बड़प्पन लूटा हो, यदि किसी कीड़े की पर्याय में जन्म लेने का बन्ध किया है तो मरण के बाद तुरन्त ही कीड़ा बन जायगा। वहां कहीं ऐसा नहीं है कि धीरे-धीरे बिगड़ते-बिगड़ते कीड़े की पर्याय में पहुंचे ! तो फिर इन मौज वाले साधनों का करें क्या ? यह शरीर भी देखो कितना अशुचि है। इसे कितना ही धोया जाय, कितना ही तेज साबुन आदि से इसकी सफाई की जाय, पर यह शरीर साफ नहीं होता। मल, मूत्र, पसेव, नाक आदि अपवित्र चीजों से भरा हुआ है यह शरीर। फिर इस शरीर की सफाई से क्या पूरा पड़ेगा ? इसी तरह इस दुःखमयी संसार में एकभव का, थोड़े समय का कल्पित मौज का साधन बनाने से पूरा क्या

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पड़ेगा ? तुरन्त ही अब फैंसला होने को है।

अन्तर की मुख्यता न करके स्वभावदृष्टि की मुख्यता में भलाई—यद्यपि ऐसे रागवितान में यह जीव पड़ा हुआ है। पर, प्रभु को देखते हैं तो वहां राग का काम भी नहीं है, मूल भी नहीं है, अनन्तकाल तक याने कभी हो भी नहीं सकता बिगाड़। जो शुद्ध है सो शुद्ध ही रहेगा। प्रभु में हम में यह अन्तर तो है, लेकिन इस अन्तर की मुख्यता न देकर जिस दृष्टि में अन्तर नहीं है उस दृष्टि की मुख्यता करता है ज्ञानी, क्योंकि पर्याय-दृष्टि की मुख्यता करनेपर जीव को ऐसी पर्यायों के तांते में ही लगा रहना पड़ेगा, क्योंकि परदृष्टि का फल यही है। और, स्वभावदृष्टि में जान-जानकर जुड़ते रहने पर कभी यह स्थिति आयगी कि हम स्वभाव के अनुरूप परिणमन प्राप्त कर लेंगे। आखिर यह आत्मा प्रभु की तरह ही तो प्रभु है, समर्थ है। प्रभु कहते उसे हैं जो प्रकर्षरूप से होवे। तो यह आत्मा जब बिगड़ता है तो बिगड़ने में भी अपनी प्रभुता बनाता है। भला कोई है क्या ऐसा वैज्ञानिक कि जो इस जीव की रचना करदे, इस जीव का जैसा परिणाम, इस जीव का जैसा जन्म-मरण बनादे ? है तो नहीं कोई ऐसा, लेकिन यह प्रभु अपनी उल्टी लीला में अपना ऐसा उल्टा विकास कर रहा है कि आश्चर्य करने लायक है। यह आत्मदेव आज मनुष्यशरीर में बंधा हुआ है और अपनी करनी के अनुसार इस भव को छोड़कर अगर पेड़-पृथ्वी भी बन जाये, किसी भव में चला जाय, किसी देह में फंस जाय, ऐसी सृष्टि हो जाना, ऐसा आत्मा का फैल जाना, इच्छा का, संज्ञाओं का बदलता जाना, ये सारी बातें अद्भुत हैं कि नहीं। तो यह प्रभु जब उल्टी लीला में चलता है तब भी वहां अपना चमत्कार दिखाता है और जब यह अपनी सीधी लीला में आ जायगा तब भी यह अपना अद्भुत चमत्कार दिखायेगा। फिर तो अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्द, अनन्तकृतार्थता पूर्ण पवित्रता प्राप्त होगी। तो यह जो अन्तर पड़ा हुआ है, इस अन्तर को यह ज्ञानी जीव ऊपरी देखता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है अर्थात् पर्याय में देखता है, स्वरूप में नहीं देखता। यदि स्वरूप में अन्तर हो जाय तो फिर भगवद्भक्ति करने से भी कुछ फायदा नहीं। जब मैं स्वरूपत: अन्त: रागी हो गया तो किसी जीव का स्वरूप ज्ञान है, तो यहां राग मेरा स्वरुप है तो फिर राग छूटेगा कैसे ? राग न छूटेगा, मुक्ति न होगी तो फिर किसलिए भगवान की भक्ति करना ? तो सत्य यही है कि राग आत्माका स्वरुप नहीं है, ऐसा रागका जो फैलाव है वह कादाचित्क है और सहेतुक है, कर्म का निमित्त पाकर यह उत्पन्न हुआ है।

निमित्तनैमित्तिभावके प्रसंगमें भी आत्मस्वातन्त्र्यका दर्शन— इस प्रसंग में कुछ मनुष्य इस रुचि के कारण कि कहीं आत्मा की स्वतंत्रता में धक्का न लगे सो रागभाव नैमित्तिक है, ऐसा प्रकट कहने में संकोच करते हैं। यदि राग को नैमित्तिक कह दिया तो, है तो राग आत्मा का परिणाम और उसे बता दिया नैमित्तिक तो इसमें आधीनता आगई, स्वतंत्रता न रही, इस भय से राग को नैमित्तिक स्पष्ट कहने में संकोच करते हैं। लेकिन, एक दृष्टि से देखो कि राग को नैमित्तिक कहने में आत्मा में स्वच्छता, स्वतंत्रता विशेष जाहिर हो सकती है। और इसी कारण कहीं-कहीं तो राग को पौद्गलिक कह दिया है शुद्धनय से अर्थात् शुद्धनय का बल लेकर जब आत्मा को विशुद्ध सहज चैतन्यसत्त्वमात्र देखने की धुन बनी है ऐसी धुन के समय कोई पूछ बैठे कि यह रागभाव किसका है तो चूंकि आत्मा को शुद्धता के दर्शन की तीव्र रुचि हुई है तो वहां उत्तर मिलेगा कि ये रागभाव पौद्गलिक है। इनका कर्म के साथ अन्वय व्यतिरेक है। कर्म के होनेपर रागादिक होते हैं, कर्म के न होनेपर रागादिक नहीं होते। तो यह विवक्षित एकदेश शुद्ध-निश्चयनय से उत्तर है कि रागादिक आत्मा के नहीं हैं किन्तु पुद्गल के हैं। कोई पुरुष आत्मपदार्थ के स्वरूप को न जानकर कह देते हैं कि विकार का कर्ता कर्मद्रव्य है। इस मान्यता में स्वतंत्रता खोई जाने से आत्मा स्वरूपच्युत बना रहता है वह। अरे निमित्तनैमित्तिक सम्बंध के प्रसंग में भी आत्मा में

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जो परिणमन है वह निमित्त के परिणमन को स्वीकारे बिना, अपने आपके परिणमन से परिणमता है। भले ही दूसरा निमित्त है। निमित्तभूत पदार्थ में उपादान का अत्यन्ताभाव होता है। खुद ही खुद की विभाव परिणति का निमित्त नहीं हुआ करता। यदि यह आत्मा आत्मा के रागद्वेष की परिणति का निमित्त बन जाय तो लो यही है उपादान और यही है निमित्त, और आत्मा का सद्भाव शाश्वत है, तब फिर राग सदा रहना चाहिए, उससे कभी मुक्त ही नहीं हो सकते।

विकारों की अहितकारिता के विश्वास की अपरिहार्यता:— भैया! यह विश्वास लायें कि ये जो रागादिकभाव उत्पन्न होते हैं वे मुझे मूर्ख बनाने के लिए हो रहे हैं। मैं तो भगवान समान विशुद्ध ज्ञानानन्द-स्वभाव का धारी हूं। इन रागों में, इन कषायों में हम हित का विश्वास न करें। इतनी बात तो करने में कोई कठिनाई नहीं है। हम यह जानते रहें कि हममें जो राग हो रहे, कल्पनायें हो रहीं, मोह जग रहा, इच्छा हो रही, ये सब मेरी बरबादी के लिए ही है, मेरी उन्नति के लिए नहीं हैं। लौकिक उन्नति से आत्मा की उन्नति नहीं कहलाती। कोई करोड़पती हो गया, अथवा कहीं का बड़ा मिनिष्टर बन गया, हजारों लाखों लोगों ने कहीं कुछ स्वागत कर दिया तो इस बड़प्पन से इस आत्मा को मिलेगा क्या? जो अपने ज्ञानानन्दस्वभाव पर दृष्टि नहीं दे रहा है वह खोखला ही तो बन रहा है। उसके भीतर में तो कुछ बल नहीं रहा। केवल कल्पनायें कर करके अपना मन भर रहा है, जो कि क्षणिक थोड़े समय बाद उससे कठिन दुःख भी आयेंगे। थोड़ा हजार लाख पुरुषों द्वारा अपना स्वागत देख लिया और उससे मौज मान लिया, पर उस क्षणिक मौज के एवज में उसको कितना दुःख उठाना पड़ेगा, इसको तो वही समझेगा। बाह्य पदार्थों से हम अपने आपका कुछ बड़प्पन बनालें यह तो कल्पना की चीज है, कोई आराम की बात नहीं है।

सहज परमात्मतत्त्व के उपयोग से ही उद्धार—मेरा कोई

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बड़प्पन मत रहो, कोई मुझे जानने समझनेवाला मत रहो, यदि मैं स्वयं अपने आपके स्वरूप का, परमात्मतत्त्व का जानने-बूझने वाला रहूंगा तो मैं तृप्त हूं, सन्तुष्ट हूं, सन्मार्गपर हूं और एक अपने इस सहज परमात्मतत्त्व की दृष्टि से अलग रहूंगा तो चाहे बाहर में कुछ भी मायामयी स्थिति रहे, उससे इस आत्मा को लाभ कुछ नहीं है। तो ज्ञानी संत विचार कर रहा है कि प्रभु में मुझ में यद्यपि पर्यायकृत अन्तर है, प्रभु विराग हैं और यहां राग का फैलाव हो रहा है, इतनेपर भी यह अन्तर स्वभाव में नहीं है। स्वरूप एक समान है, ऐसा जानकर अपने आत्मगुणों के कीर्तन में रत ये संत पर्याय दृष्टि को गौण करके द्रव्यदृष्टि से, स्वभावदृष्टि को मुख्य करके अधिकाधिक अनुभव करने का यत्न कर रहे हैं कि जो प्रभु का स्वरूप है सो मेरा स्वरूप है। मुझ में किसी भी प्रकार का क्लेश नहीं है। क्लेश हो रहा हो तो रागद्वेषमोह की कल्पनायें छोड़ दें, क्लेश अवश्य मिटेगा और उस कल्पना के छोड़ने में कोई संकोच और हैरानी भी न मानना चाहिये, क्योंकि यह तो सब छूटेगा ही। वैभव भी छूटेगा और वैभवविषयक कल्पना भी छूटेगी। तब ज्ञानबल से हम स्वरूपदर्शन कर करके क्यों न उन कल्पनाओं को छोड़ दें, जिससे हमारा उद्धार हो।

निरन्तर तथा अविकार अन्तस्तत्त्व का समुत्कीर्तन—जितने भी पदार्थ होते हैं वे मूल में अपने निज सहज सत्त्व से सिद्ध होते हैं। अर्थात् जो भी है वह अपने कारण अपने स्वरूप से अपने स्वभावमात्र है। फिर बाह्य पदार्थों का सम्बंध बने और उस सम्बंध के कारण विभावपना आया तो उससे रागमल उत्पन्न हो जाता है। वह मल ऊपरी है, स्वभाव में नहीं है। इस शरीर को आत्मा का बिलकुल ऊपरी आवरण कह सकते हैं, याने आत्मा के प्रदेश में शरीर का कुछ भी नहीं गया। शरीर अत्यन्त भिन्न पदार्थ है, आत्मा अत्यन्त भिन्न है। आत्मा में शरीर का आवरण बिल्कुल ऊपरी है, इस तरह का ऊपरी आत्मा में राग नहीं है। जब राग होता है तो आत्मा के

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सर्वप्रदेश रागमय हो जाते हैं उस काल में। जिस काल में जो परिणमन है, पदार्थ उस परिणमनमय हुआ करता है। इतना अन्त: भीतरी परिणमन होने पर भी चूंकि वह स्वभाव में नहीं है, सहज सत्त्व में नहीं है इस कारण राग-वितान ऊपरी अन्तर कहा गया है। जहां पर्यायिकृत ही अन्तर है, स्वभाव में अन्तर नहीं है ऐसे स्वरूप दृष्टि से अपना और प्रभु का स्वरूप निहारकर अपने आपको तृप्त पवित्र करना चाहिये। लोक में अन्य कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका ध्यान रखने से, जिसका विचार करने से, जिसकी उपासना करने से आत्मा पवित्र हो सके। केवल एक यह प्रभुस्वरूप ही है जिसका ध्यान करने से आत्मा पवित्र बनता है। पवित्रता क्या? ज्ञान शुद्ध रहे, रागद्वेष इष्ट अनिष्ट ये वासनायें न जगें ऐसे उपयोग के निर्मल रहने का ही नाम पवित्रता है। तो जैसे स्वरूप की दृष्टि रखने पर मुझमें और भगवान में समानता ज्ञात होती है ऐसा स्वतंत्र, निश्चल, अविकार, जानन देखनमात्र यह मैं आत्माराम हूं।

"मम स्वरुप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥"

स्वरूप के अनुरूप उपयोग बनाने के प्रयत्न के साथ ज्ञानी का आत्मस्वरूपचिन्तन—मेरा स्वरूप सिद्ध प्रभु के स्वरूप के समान है अर्थात् जैसे सिद्ध प्रभु अनन्त ज्ञानदर्शन आनन्दशक्ति के निधान हैं उस ही प्रकार मैं अपने स्वरूप में अनन्त ज्ञानदर्शन शक्ति आनन्द का निधान हूं, अर्थात् सहज अनन्त चतुष्टयमय हूं। प्रभु व्यक्त अनन्त चतुष्टयमय हैं। जिस स्वरूप की बात कही जाती हो उस स्वरूप का उपयोग पहुंचने पर उसके तथ्य का ज्ञान होता है। हम अपने उपयोग को विषय कषायों की वासना से वासित बनाये रहें और सिद्ध प्रभु के स्वरूप की, अपने स्वभाव की चर्चा मात्र करके उसका परिचय पायें, उसका रसास्वाद करना चाहें तो ऐसा नहीं हो सकता। तैयारी के साथ प्रभुस्वरूप का कोई परिचय करे तो परिचय हो सकेगा। जैसे छोटे

Version 1

बच्चे को कुछ काम सिखाने के लिए मां स्वयं उस प्रकार से चेष्टा करती है तो बच्चा भी चेष्टा करता है। जैसे मंदिर में मां ने भगवान को नमस्कार किया तो बच्चे ने भी नमस्कार किया। कभी बच्चे को नमस्कार कराने के लिए दूसरी तीसरी बार भी नमस्कार करती है, हाथ जोड़ती है। जो काम बच्चे से एक शान्ति से कराना हो तो उस रूप स्वयं वह मां तैयारी करती है तो वह बच्चा भी करता है। यहां सिद्ध के स्वरूप को जानना चाहें तो सिद्ध की निर्मलता का हम अनुकरण करें, उस रूप से अपना उपयोग बनायें तो हम सिद्ध के स्वरूप का परिचय पा लेंगे। हम उपयोग तो चलाते उल्टे और जानना चाहें प्रभु के स्वरूप का, स्वभाव का तथ्य, तो यह बात नहीं बन सकती। जगत के पदार्थों को असार भिन्न जानकर, अत्यन्त भिन्न असार समझकर उन सब विषयों का उपयोग न रहे, केवल एक अपने उपयोग का यही लक्ष्य रहे कि मुझे तो जानना है अपने उस सार शरण प्रभु को। एकमात्र इस पवित्र उद्देश्य के साथ बाह्य पदार्थों का विकल्प तोड़कर अपने आपमें निष्कषायभाव से, पक्षपात छोड़कर, किसी को इष्ट अनिष्ट न जानकर, सबके प्रति राग विरोध छोड़कर हम अपने आपके उस प्रभुस्वरूप से मिलना चाहें तो मिलन हो सकता है।

प्रभुमिलन की सुगमता—भैया ! प्रभु का मिलन क्या है ? स्वयं ही तो है यह प्रभु। मिलन यों कहलाता कि उपयोग ने कभी इस प्रभु को नहीं विराजमान किया। हम इससे अलग रहे उपयोग द्वारा। हम अलग कहां रह सकते हैं ? हम ही तो वही द्रव्य हैं। आत्मद्रव्य जो द्रव्य असली रूप में रह जाय तो प्रभु कहलाता है व्यक्त रूप से। तो हम स्वयं सर्वस्व शरण सार प्रभु होकर भी अपने को न जान सके, उपयोग इससे अलग रहा तो कहां रहा फिर इसका प्रभु, इससे मिलन न रहा। जो बच्चा अपने पिता से विरुद्ध चलता है, विरुद्ध उपयोग रखता है तब फिर उस एक घर में रहते हुए भी पिता से पुत्र का मिलन तो न कहलायेगा। वह तो एकदम विरुद्ध चल गया।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अब मिलन क्या रहा ? और, जब मिलन नहीं है और एक ही घर में बस रहे हैं तो वहां आकुलता व्याकुलता होती ही है। माना तो जा रहा है अपना और विरोध होने के कारण उसे उसमें हो रहा है विरोध तो ऐसी स्थिति में आकुलता उत्पन्न होती है। किसी को अपना मत मानो। कोई आवश्यकता नहीं किसी को अपना मानने की, चाहे कितना ही विरोधी हो, कितना ही अलग रहता हो, जो पुरुष पहिले से विरोधी है उसके विरुद्ध कार्य को देखकर दुःख नहीं होता। और जब कोई अपने में से अपना ही मित्र अपने से कदाचित् विरोध कर जाय तो उसमें बड़ा दुःख महसूस करते हैं। तो यह उपयोग अपना ही तो है। और, यह स्वरूप स्वयं ही है। यह उपयोग इस स्वरूप से विरुद्ध हो गया है। अपना सम्बंध है उपयोग से और फिर अपने स्वरूप से हो रहा है विरोध, तब इसमें आकुलता होना प्राकृतिक बात है।

उपयोग को स्वरूपानुरूप करने में लाभ—अब अपने इस उपयोग को हम अनुकूल करें पूरे निर्णय के साथ कि जगत में कहीं सार नहीं रखा, ऐसे निर्णय के साथ परसे उपेक्षित होकर ज्ञाता द्रष्टा रहें। क्या रखा है बाह्य में ? मानलो बहुत-बहुत परिग्रह जोड़ लिया तो अन्त में उससे तत्त्व मिलेगा क्या ? आत्मा का सार और कल्याण क्या मिल सकता है ? कुछ भी नहीं। और, वर्तमान में भी क्या सार रखा है ? यदि यहां के कुछ मोही लोगों ने कुछ प्रशंसा कर दी, यह बहुत अच्छा है, अग्रिम स्थान दे दिया मोहियों ने तो इसका अर्थ है कि आप मोहियों के सिरताज बन गए। मोही का पर्यायवाची शब्द मूढ़ भी है। तो उस प्रशंसा करने वालों ने मूढ़ों में अग्रिम स्थान आपको दे दिया तो क्या अर्थ हुआ—मूढ़ों के सिरताज बन गये। क्या रखा है यहां के व्यवहार और यहां के मौज में, यहां की इज्जत में। यह उपयोग अपने प्रभु की इज्जत समझे तो असली इज्जत वहां है और तृप्ति सन्तोष वहां है। और, जिनको सन्तोष का ऐसा मिलन आधार मिल गया है उसका स्वयं ही ऐसा विशिष्ट पुण्य रस बढ़ता है कि लोक की इज्जत,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अग्रिम स्थान, लोक में अनेक सुविधाओं का साधन ये सब अनायास प्राप्त होते हैं।

अभ्युदय एवं निःश्रेयस प्राप्ति का उपाय धर्मधारण—कोई बालक धनी के यहां उत्पन्न हुआ। उस बालक में इतना भी तो बल नहीं है कि अपने पैर यहां वहां सरका ले, बैठ जाय, बोल ले, और उत्पन्न होते ही बच्चा कहलाने लगा लखपती, करोड़पती, और उस-उस तरह के उसके साधन भी हो रहे हैं। तो कहां उस बालक ने कमाई की, पर वह समृद्ध माना जाता है। जब वह कुछ और बड़ा होता, १०-१२ वर्ष का होता तब भी वह कुछ धनोपार्जन नहीं कर रहा, लेकिन उसकी समझ में आ गया कि मैं ऐसा धनिक हूं। तो समझ के कारण भी उसमें एक धनिकता की विशेषता जगी। कौन कमाने आया ? सब कुछ धर्म का फल है। धर्म में चित्त होने से स्वयं ही ऐसा पुण्य रस उमड़ता है कि अनायास ही साधन प्राप्त होते हैं। जिसको इस लोक में भी सुखी रहना हो, अपना जीवन भी सफल करना हो, भविष्य में संसार के संकटों से छुटकारा पाना हो, तो इन समस्त कल्याणों का इन समस्त अभीष्ट तत्त्वोंका उपाय केवल एक ही है ? धर्म धारण करो।

गुप्त का गुप्त में गुप्त विधि से गुप्त कल्याणविधान—अब तक जो सिद्ध हुए हैं, जिनमें सर्वप्रकार से विशुद्धता जगी है वे भी कभी संसारी प्राणी थे और निगोद में थे। कैसे उनका उत्थान हुआ और मनुष्यभव पाकर किस प्रकार से उन्होंने विशेष उत्थान किया वह रीति समझ लीजिये। इस लोक में गुप्त रहकर अपना कल्याण करना है। गुप्त रह करके मायने सुरक्षित रहकर है, अब वह सुरक्षा गुप्त हीं रहने में होती है, इस कारण गुप्त का अर्थ लोग छुपा हुआ समझने लगे। गुप्त का अर्थ छुपा हुआ नहीं है। गुपू रक्षणे धातु से गुप्त बना है उसका अर्थ है सुरक्षित। गुप्त रहकर धर्मपालन करो अर्थात् अपने उपयोग को अपने स्वभाव में रखकर सुरक्षित होकर, जिसमें कि कोई विघ्न ही नहीं हो सकता, अपने आत्मदर्शन करो और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्मानुभव करते हुए अपने कल्याण में बढ़ो। सुरक्षित बना हुआ है गुप्त होने से। जैसे किसी चीज को सुरक्षित करना है तो लोग तिजोरी में रखकर ताला लगा देते हैं और कहते हैं कि लो इसे छुपा दिया। अब उस चीज की सुरक्षा इसी हालत में है कि वह छुपी हुई रहे, किसी की निगाह में न पड़े, क्योंकि उस वस्तु के चाहने वाले अनेक लोग हैं, उसे लोग चुरा लेंगे। तो वस्तु की सुरक्षा का साधन जैसे लोगों ने छुपा देना माना है, यों ही समझ लीजिये कि अपने आपकी सुरक्षा का साधन भी अपने आपको अपने में छुपा देना, विलीन कर देना, बस यही है। अपने आपके गुण अपने मुंह से प्रकट करने के मायने है कि अपने स्वरूप को, स्वभाव को, गुण को अपनी विशेषता को जाहिर करदे, लोगों को बतादे, सो इसमें गौरव नष्ट होता है, प्रगति रुक जाती है। यद्यपि इस प्रसंग में लोग मेरे गुण छीन लेंगे ऐसी बात नहीं है, लेकिन इस तरह की जाहिरता में अपने आपसे ही अपनी बात जाहिर करने में चूंकि उसको पर्यायबुद्धि का दोष लगा है, उसके चित्त में यह राग कणिका उठी है कि लोग भी समझ जायें कि मैं कितना अच्छा चल रहा हूं। चाहे वह कितना ही थोड़े अंश में बना हो, लेकिन इस राग विष के कारण गुणों की प्रगति रुक जाती है, गुणों की जो प्रगति चल रही थी वह समाप्त हो जाती है। तो कल्याण भी गुप्त है और उसकी विधि गुप्त है। और, यों समझिये कि यह भीतर ही भीतर अपने ही प्रदेशों में सरक कर अपने आपमें एकरस होने की बात है। यह है आत्मा के कल्याण की विधि।

आत्मानुभूति की स्थिरता के लिये साधुव्रत का पालन— आत्मानुभूति में फिर स्थिरता नहीं रहती है सो उस स्थिरता को उत्पन्न करने के लिए, स्थिरता में जो जो बाधायें हैं उनसे दूर रहने की बात होना इसी के मायने है साधुव्रत। घरगृहस्थी में रहना, परिजनों के बीच रहना आत्मानुभूति की स्थिरता में बाधक है यहां तक कि कुछ भी द्रव्य रखना, कोई भी वस्तु रखना ये भी किसी अंश में हमारी आत्मानुभूति में साधक हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो जिनको आत्महित की धुन लगी है वे पुरुष इन समस्त परिग्रहों का त्याग कर निर्ग्रन्थसाधु हो जाते हैं मात्र गात का परिग्रह रह जाता है। शरीर को कहां त्याग दें। उनकी श्रद्धा में तो यह बात है कि यह शरीर भी मेरे आत्महित में बाधक है। पर इसे कहां तक टालदें, कहां अलग करदें, यह तो लगा हुआ ही है, जब तक भी है। कदाचित् भावुकता में आकर शरीर को हटादें, मरण करलें तो इससे इस आत्महिताभिलाषी को क्या सिद्धि है? अभी अपक्व दशा है, कल्याण में पूरा बढ़ सके नहीं, कल्याण की धुन जगी थी, और भावुकता में कर दिया शरीर का त्याग, तो अगला कोई जन्म तो लेना ही पड़ेगा। फिर संसार का चक्र लग जायगा। तो साधुजनों का विवेक अभी शरीर को रखे हुए है और उस ही विवेक के कारण साधुजनों को आहार भी लेना पड़ रहा है। आहार के लेने में नन्हें कोई खुशी गहीं होती, लेकिन आहार छोड़कर भी वही हालत समझिये, होगी जो शरीर का परिहार करके हालत हो सकती है अपक्व दशा में। अतएव विवेक ही उन्हें आहार के लिए उठाता है, आसक्ति नहीं उठाती। इतनी तेज धुन जिस पुरुष के आत्महित में लगी है वह पुरुष विशद अनुभव करता है कि "मम स्वरूप है सिद्ध समान।"

ज्ञानी की केवल समाधेय एकमात्र समस्या—आत्महितार्थी पुरुषों के लिए अन्य कोई समस्या आगे नहीं है। किसी बात को वे समस्या ही नहीं समझते। किसी ने गाली दे दी तो वे इसे कुछ समस्या ही नहीं समझते हैं। क्या है, ये सब बाहरी बातें हैं, बाहरी परिणमन हैं। कोई शरीर पर उपद्रव भी करे तो उसे भी वे समस्या नहीं समझते। कोई भी कठिन से कठिन शारीरिक रोग हो जाय तो उसे भी वे कोई समस्या नहीं समझते। वे तो जानते हैं कि किसी तरह से मेरा संसार का आवागमन छूटे, संसार का आवागमन ही एक हमपर विपदा है, अन्य कोई दूसरी विपदा हमपर नहीं है। यह विपदा यदि न टली तो संसार में रुलना ही ती बना रहेगा। आज मनुष्य होकर कुछ शान बगरा रहे हैं। मरण के बाद यदि कीट-पतिंगा, पेड़-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पौधे आदि बनगए तो फिर कहां शान रही ? तो इस जीवन में अन्य कुछ खास समस्या नहीं है। खास क्या, कुछ भी अन्य समस्या नहीं है। थोड़ासा गृहस्थ जीवन चलाने के लिए सहयोग में जो कुछ बात हो सकती है उतनीभर बात मान लिया लेकिन समस्या कुछ नहीं है।

ज्ञानी के बन्धनमुक्ति का तीव्र संकल्प—इस जीवन में कुछ भी स्थिति गुजरे, बड़ा दरिद्र होकर भी रहना पड़े तो कोई बड़ी समस्या नहीं है। किसी का दास बनकर रहना पड़े तो कोई समस्या नहीं है। इस शरीर के नाते से ये सब काम चल रहे हैं। यहां तक बताया कि हे प्रभो ! मैं आत्म धर्मसे रहित होकर, आत्मदृष्टि से च्युत होकर अथवा कहो—जैन धर्म से वंचित होकर चक्रवर्ती भी नहीं होना चाहता हूं। जिन धर्म में वासित होकर अर्थात् रागद्वेषादिक शत्रुवों को जीतने का जो उपाय है उस उपाय में वासित होकर मैं किसी छोटे का भी दास बना रहूं, तो वह मंजूर है, पर आत्मदृष्टि से रहित होकर चक्रवर्ती भी होना हमें मंजूर नहीं है। इतना तीव्र संकल्प है आत्महित चाहने वाले पुरुष का। दरिद्र हो गया तो यह कौनसी बड़ी समस्या है ? कुछ भी बात गुजर जाय तो कौनसी बड़ी समस्या है ? समस्या सामने वह है कि शरीर, कर्म, विकार इनका बन्धन कैसे छूटे ? एतदर्थ जो इन बंधनों से रहित हैं उनके स्वरूप का स्मरण किया जा रहा है और स्वरूप-स्मरण करते हुए अपने आपमें भी चिन्तन किया जा रहा है—"मम स्वरूप है सिद्ध समान।"

केवल स्वरूप के निरीक्षण से सिद्ध स्वरूप का परिचय—सिद्ध भगवान का स्वरूप विचार करने का सीधा उपाय है उन्हें केवल देखना। केवल के रूप में उस निकल परमात्मा को निरखने पर जहां वह एक आत्मतत्त्व ही जब उपयोग में रहता है तो उस ही को निषेधरूप से यों कहा करते हैं कि वहां द्रव्यकर्म नहीं, भावकर्म नहीं, नोकर्म नहीं। निषेध से वस्तु का स्वरूप नहीं आया करता। निषेध तो वस्तु के स्वरूप की विशेषता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। स्वरूप में तो स्वरूप है। तो यों जब हम केवल आत्मा को निरखते हैं, प्रतिभासमात्र पदार्थ जो अपने आपके सहजसत्त्व से अपने आपके सहजविलास में निरन्तर रहता हो आत्मपदार्थ, इस ही का नाम है सिद्ध भगवान। तो जब हम केवल के रूपसे सिद्ध प्रभु को निहार सकते हैं तो हम अपने आपको भी केवल के रूप में निहारें, क्योंकि जब मैं हूं तो जो हूं सो ही तो हूं। पदार्थ में जो अस्तित्व है बस वही अस्तित्व है उस पदार्थ में। मैं हूं तो जिस स्वरूप से हूं उस ही मात्र तो हूं। उस ही केवल को देखें तो ऐसा केवल अन्तस्तत्त्व को निहारने से यह विदित होता है कि—"मम स्वरूप है सिद्ध समान।"

सिद्ध प्रभु की भांति अपने स्वभाव में केवल देखने का यत्न— जैसे यहां व्यवहार में बातचीत में कहा करते हैं किसी नग्न पुरुष को देखकर, जिसपर वस्त्र डोरा कुछ भी नहीं है, उस नग्न पुरुष की चर्चा करते, चाहे सामान्यजन नग्न हों अथवा साधुजन हों, जब यह चर्चा करते कि इसका रूप ऐसा नग्न है तो क्या यह नहीं कह सकते कि जितने कपड़े पहिनने वाले लोग हैं वे सब भी इस ही प्रकार नग्न हैं? जैसा कि नग्न कपड़ों का त्याग करने वाला है? कपड़े के भीतर सब लोग वैसे के ही वैसे नग्न हैं। क्या उसमें कुछ अन्तर है? तो इसी तरह सिद्ध भगवान हैं पूरे नग्न। जिनपर शरीर का आवरण नहीं, कर्म का आवरण नहीं, विभावों का आवरण नहीं, ऐसे शुद्ध नग्न हैं सिद्ध भगवान। तो जैसे केवल परिपूर्ण नग्न सिद्ध प्रभु हैं क्या उस प्रकार से केवल परिपूर्ण नग्न हम आप सब नहीं हैं? आवरण से प्रथक् शरीर और नोकर्म से प्रथक् अस्तित्व है यह तो प्रकट बात है, उनके भीतर तो हम सुगम नग्न हैं। मैं आत्मस्वरूप ऐसा केवल नग्न हूं जैसा कि कपड़े के भीतर पुरुष साधु की तरह नग्न हैं। अब रही विभावों की बात कि रागादिक विकारों से भी परे, उन आवरणों से भी निराला नग्न यह मैं आत्मतत्त्व हूं, सो यह परख परम पैनी विवेक छेनी से भिन्न करके की जा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सकती है ।

स्वभाव और विभाव के भेदविज्ञान में भेदविज्ञान की पराकाष्ठा—भैया भेदविज्ञान की पराकाष्ठा स्वभाव विभाव के भेदन में ही है । शरीरसे निराला मैं हूं ऐसा कहकर भेदविज्ञानजनिजात अमृत रसका स्वाद नहीं लिया जा सकता । द्रव्यकर्म से निराला हूं ऐसा कहकर भी भेदविज्ञान से आने वाले अमृत रस का स्वाद नहीं लिया जा सकता है । पर इस भेदविज्ञानामृत का पूर्ण स्वाद, यहां स्वरूप और विरूप में स्वभाव और विभाव में जब भेदविज्ञान किया जाता है और वहां धीरे-धीरे भीतर ही सरककर अपने आपके स्वभाव में उपयोग रमाकर जब बोध होता है, अनुभव होता है, प्रतिभासमात्र सत्, इस तरह से जब अनुभव होता है स्वभाव का, तो इस स्वभाव और विभाव के भेदानुभव के समय इस भेदविज्ञानानुभूति से ग्राह्य अन्तस्तत्त्वामृतरस का स्वाद आया करता है । इस भेदविज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति में पहुंचने के लिए शरीर से निराला मैं हूं यह भेदविज्ञान सहयोगी है, कर्म से निराला मैं हूं यह भेदविज्ञान सहयोगी है, पर साक्षात् अमृतरस का स्वाद दिलानेवाला स्वभाव और विभाव का भेदविज्ञान है । इस भेदविज्ञान के जरिये मैं इन रागादिक विकारों के भीतर भी नग्न हूं केवल हूं । जैसे कि सिद्ध भगवान प्रकट नग्न है, केवल हैं, अपने मात्र स्वरूप में हैं । इस प्रकार की सुध हम अपने आपमें स्वभाव विभाव के बीच भेदविज्ञान की दृष्टि से कर सकते हैं ।

सिद्ध समान प्रतिभासमात्र स्वरूप के अनुभव में पुनीत निर्भरता—यहां अपने आपका ही विचार चल रहा है । मैं अर्थात् प्रतिभासमात्र पदार्थ सिद्ध के समान हूं । ऐसा साम्य अनुभव करनेपर और यह विदित किया जानेपर कि मैं तो प्रतिभासमात्र पदार्थ हूं । अहंकार ममकार के सारे बन्धन टूट जाते हैं । इस प्रतिभासमात्र पदार्थ का घर होना, कुटुम्ब होना कितनी बेतुकी बात है । यह प्रतिभासमात्र पदार्थ मैं प्रतिभासस्वरूप ही हूं ।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रतिभास में ही मेरा सारा सर्वस्व है। किसी भी अन्य पदार्थ का रंच भी सम्बंध नहीं है। कभी हो ही नहीं सकता। उपयोग को बार-बार भ्रमाने से, कल्पना में सम्बंध मानने से, इस जीव ने अपने आपपर भार बढ़ा लिया है। प्रतिभासमात्र पदार्थ जैसा कि सहज अस्तित्व में मैं हूं, उसपर कुछ भी भार नहीं है, वह निर्भार है। अमूर्त आकाश में कहीं भार आ सकता है क्या? इसी प्रकार अमूर्त प्रतिभासमात्र अन्तस्तत्त्व में कोई भार भी बना हुआ है क्या? जैसे आकाश अनादिसिद्ध है वैसे ही यह प्रतिभासमात्र अन्तस्तत्त्व मैं भी अनादिसिद्ध हूं, किन्तु एक उपयोग गुण की विशेषता होने के कारण अनादिबद्धता से यह जीव बाह्य में उपयोग भ्रमाता है, सम्बंध बनाता है, कल्पनायें करता है, यह मेरा है, बस इतनी कल्पनाभर से इस जीव की और विडम्बना इतनी बड़ी बन गई कि जिसका कोई पार नहीं।

केवल स्वरूपके भान बिना होनेवाली विडम्बनाका दिग्दर्शन— नाना प्रकार के देहों में बंधकर यह जीव जन्म-मरण किया करे, अपनी सुध भूला रहे, नाना क्लेश पाता रहे, यह इस जीव की विडम्बना नहीं तो और है क्या? आज थोड़ासा पुण्य पाया, मन पाया, साधन-सामग्री पाया, फूले नहीं समाते, अथवा चिन्ता कल्पना में ही निरन्तर समय गवाते, यह स्थिति बना रखी है, पर वह स्थिति कितने दिनों की है? आखिर होगा क्या? कोई भी सत् पदार्थ समूलत: नष्ट नहीं होता। किसी भी वैज्ञानिक से पूछ लो, कहीं भी अनुसंधान कर लो, जो पदार्थ सत् है वह कभी नष्ट नहीं होता है। मैं सत् हूं तो कभी नष्ट हो ही नहीं सकता। नष्ट नहीं हो सकता और इस शरीर को छोड़ दूंगा तो रहूंगा तो ना कुछ न कुछ। क्या रहूंगा मैं? उसका उदाहरण है संसार के ये सारे जीव। जब हम ढंग से अपना जीवन नहीं चला रहे हैं—ढंग के मायने यह है कि मैं प्रतिभासमात्र अंतस्तत्त्व को सही-सही जानूं और इसके निकट रहकर, इसकी शरण में आकर अपने आपमें सन्तोष पाता रहूं, जब मैं इस उत्तम विधि से रहना नहीं जानता, न रहने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का यत्न करता हूं तो उसका निष्कर्ष, फल यह है सब, जैसे कि संसार में ये सारे जीव दिख रहे हैं।

सहिष्णुता में प्रसन्न रहने की वृत्ति का सुपरिणाम—आज किसी के द्वारा जरासा भी अपमान होता है तो बरदास्त करने की प्रकृति नहीं है और जब कोई पशु बनकर घोड़ा, बैल, बकरा, बकरी आदि बनकर मालिक के आधीन रहूंगा, जहां बांध दिया वहीं बंधे हैं, कुछ कर नहीं सकते, जहां जोत दिया जुत गए, कहीं भाग नहीं सकते। कार्य करते रहनेपर भी मालिक के मनमें आया तो झट लात मार दिया, चाबुक मार दिया, अशक्त होनेपर काम न कर सके तो लात, चाबुक, घूँसे आदि सहने पड़ते हैं। इतने बड़े अपमान तो सहने पड़ेंगे, पर आजकी स्थिति में हम दूसरे की गाली निन्दा या अन्य बातों को रंचमात्र भी सहन करने का भाव नहीं रख पाते। आज विषयसुख के थोड़े साधन जुटे हैं और उनसे अपने को बड़ा सौभाग्य-समझते हैं, मेरा जैसा भाग्य किसका है, पर इस देह के छूटने के बाद जब दुःखदायी स्थितियों में भवों में जन्म होगा, निरन्तर कष्ट ही कष्ट होंगे तो वे कष्ट तो सह लिए जायेंगे, पर यहां धर्म के नामपर संयम के नामपर थोड़ा भी कष्ट सहा नहीं जाता। जो एक जैन शासन के भक्तों के लिए साधारण आचार है—अनेक बार न खाना, बाजार में चलते-फिरते न खाना, जिस चाहे अनुचित जगह में न खाना, रात्रि में न खाना, अभक्ष्य पदार्थ न खाना, ऐसी नियम की बात आनेपर बड़ी शंका और बड़े प्रश्न होते हैं कि कैसे गुजारा चलेगा ? बाहर जायेंगे तो कैसे गुजारा चलेगा ? काम करके रातको आ पाये तो कैसे न रात को खा लें ? अरे जब मरण के बाद दुःखमयी ऐसी स्थितियां मिलेंगी तब वहां कैसे गुजारा कर लोगे ?

व्यवहारधर्मों का प्रयोजन केवलस्वरूप निरखने की पात्रता कायम रखना—ये सब जितने भी व्यवहारधर्म हैं व्रत, तप, संयम, नियम. प्रतिज्ञा, ये सब केवल एक कार्य के लिए हैं, अपने आपको केवल अनुभव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

करने के लिए। धर्म का दूसरा कोई प्रयोजन ही नहीं। सर्व कार्यों में केवल एक यही उद्देश्य है कि मैं अपने को केवल जिस सहज अस्तित्व से हूं, प्रतिभासमात्र अनुभव करलूँ, इस अनुभूति में भार चिन्ता विकल्प क्लेश कुछ भी तो नहीं है। इस आनन्दामृत को छोड़कर कल्पना किए गए परिजनों के लिए, बच्चों के लिए रात-दिन व्यग्र रहना, चिन्ता करना, सोचते रहना, वैभव बढ़ाने की धुन रखना, यह सब अपने आपके प्रभुपर कितना बड़ा भारी अन्याय है, जिससे कि हम इस केवल की सुध नहीं ले सकते। हमारा कर्तव्य है कि हम व्रत तप नियम संयम से मनको वश करें और केवल प्रतिभासमात्र स्वरूप की दृष्टि के बल से अन्तस्तत्त्वानुभव के आनन्द में रहें।

केवल स्वरूपके निरीक्षणसे सिद्धसमान स्वरूपका परिचय— सिद्धसमान हूं मैं यह कब जाना जाता ? जब केवल के नाते से अपनी और सिद्ध की परख होती है। सिद्ध भगवान की परख भी इस ढंग से करे कोई कि सिद्ध प्रभु लोक के अग्र भाग में विराजे हैं। तनुवातवलय में भी सबसे ऊपर बिराजे हैं। एक में अनन्तसिद्ध बिराजे हैं। एक में एक ही रह रहा है, वह सिद्धस्थान मनुष्यलोक प्रमाण है आदिक रूप से भी हम सिद्ध की महिमा जानें तो इससे उनकी निजी महिमा नहीं जान सकते। प्रभु की महिमा जानने का उपाय तो यही मात्र है कि उनके केवल स्वरूप को देखा जाय। ज्ञानगुण की ५ पर्यायें बतायीं हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान लौर ५वीं पर्याय का नाम है सकलज्ञान। ज्ञानावरण कर्म का सर्वक्षय होनेपर कैसी परिणति होती, वह पर्याय बताना, परिणमन बताना कि ज्ञान का वहां कैसा विलास है, यह है सकल ज्ञान, जिस ज्ञान में त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ ज्ञात हो रहे हैं, किन्तु वह सकल ज्ञान हुआ कैसे और सकल ज्ञान की स्थिति में है किस प्रकार यह, इतनी बात शीघ्र समझमें आ जाय और उद्देश्य में पहुंच जाये इसके लिए उस सकल ज्ञान का नाम रखा है केवल ज्ञान। केवल सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अपने निरखने और निखरने की पद्धति—हम ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहने का यत्न करें, झट अपने को सम्बोधते जायें, किन्हीं भी प्रसंगों में अपने आपको सम्बोधते रहें—तू तो केवल प्रतिभासमात्र सत् है, इससे अधिक तू कुछ नहीं है। निहार ले, इससे आगे तो कल्पनायें करके अपने को बहुरूपिया बना रहा है। तू तो एकरूप है, तो उस बहुरूपिया की कल्पना करके एकरूप प्रतिभासमात्र अपने आपकी प्रतीति करे तो इस नाते से यह परख सकता है कि मम स्वरूप है सिद्ध समान। अपने आपको तो माना किसी पर्यायरूप बहुरूपिया के ढंग से और उसमें फिर यह कहा कि मेरा स्वरूप सिद्ध के समान है तो इसका अर्थ है कि अपन तो खुद गये बीते रुलते रहे, गिर रहे हैं साथ ही भगवान को भी इसमें पटक दिया, वह भी मेरे ही समान है, पर इनकी इस मजाक से सिद्ध प्रभु में कोई आंच नहीं आयी, आंच इन्हीं मजाकियोंपर आयी। मैं सिद्ध प्रभु के समान हूं, यह बात तब ही विदित हो सकती, जब मैं अपने आपको कैवल्य के नाते केवल ही केवल अपने स्वरूप को निरखूं, समझूं, उपयोग लगाऊं। तो जहां शरीर का भान न रहे और रोमांच होता हुआ शरीर बना रहे, जहां केवल प्रतिभासमात्र अपने को निरखें तो उस समय सत्य अद्भुत अनुपम आत्मीय आनन्द जागता है, तब उस अनुभव के बाद फिर विदित होता है कि ओह! सिद्ध भगवान इस तरह का आनन्द निरन्तर लिया करते हैं। इससे भी उत्कृष्ट आनन्द अव्याबाध है उनका।

सिद्ध प्रभु के कृतार्थता की अनुभूति का अनन्त आनन्द—कुछ लोग तो यह प्रश्न किया करते है कि सिद्ध भगवान को सुख किस तरह मिलता होगा? क्या सुख है? जिनकी कल्पना में यह बसा हुआ है कि सुख तो इन्द्रियजन्य हुआ करता है। यहां शरीर भी नहीं, कुटुम्ब भी नहीं, घर द्वार भी नहीं, तो वे क्या सुख पाते होंगे? अरे यहां भी जो कुछ आप सुख पा रहे हैं वह घरके कारण नहीं पा रहे, कुटुम्ब के कारण नहीं पा रहे, वहां भी आप कल्पनायें करके सुख पा रहे हैं। उन कल्पनाओं के बीच भी जिस-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जिस क्षण कृतार्थता का परिणाम होता है उस-उस क्षण कुछ-कुछ सुख प्राप्त होता है। यहां भी सुख कल्पनायें करने से नहीं मिल रहा, किन्तु कल्पनायें कर चुकनेपर जो चित्त में एक यह दृष्टि बनती है कि अब मेरे करने को काम नहीं रहा, इस निर्भारिता का कुछ सुख अनुभव में आता है। हर एक कल्पना के बीच बात तो यही होती रहती है कि अब मेरे को कार्य कुछ नहीं है। सिद्ध प्रभु के पूर्ण कृतकृत्यता प्रकट हुई है सो प्रभु के कृतार्थता की अनुभूति का अनन्त है आनन्द।

सिद्ध प्रभु के विविक्तता की अनुभूति का अनन्त आनन्द— सम्बंध मानने के बीच-बीच भी स्वभावत: ऐसे क्षण आते हैं कि जहां सम्बंध मानने की बात शिथिलसी होती है। सुख तो मिलता है उस पद्धति के कारण, पर चूंकि इसका आकर्षण है परपदार्थों में, सो मानता है कि सुख मिला है सम्बंध के कारण। जिसको इष्टवियोग हुआ है यह बहुत वेग से और बहुत काल तक रोता रहता है, क्योंकि दृष्टि में यह बनाया है कि वह मेरा इष्ट था और गुजर गया। ऐसा सोचते-सोचते कुछ समय बीतने पर जब थक जाता है और उस सोचने की कमी आती है तो वहां कभी जो एक असम्बन्ध-प्रतीति का क्षण आता है सुख तो हुआ उसके कारण, पर यह उसको पकड़ नहीं सकता कि यह सुख इस विवक्तता के आंशिक विलासके कारण से हुआ। जितने भी अब भी सुख होते हैं वे असम्बंध और काम करने को नहीं पड़ा, इन दृष्टियों से हुआ करते हैं। किन्तु लोग चूंकि परद्रव्यों के लोभी हैं और इस यथार्थता की प्रतीति नहीं है सो इस तथ्य का परिज्ञान न करके यह मान रहे हैं कि मुझको सुख हुआ है, तो इस सम्बंध से और इस कार्य से हुआ है। इस तथ्य का जिन्हें परिचय है वे सिद्ध भगवान के स्वरूप में कोई सन्देह ही नहीं करते। सिद्ध प्रभु का किसी भी बाह्य पदार्थ से रंच सम्बंध नहीं है, उपयोगकृत भी सम्बंध नहीं है और वे अपने स्वभाव से अपने में उत्पाद व्यय ध्रौव्य करते रहते हैं, इससे आगे वस्तु का काम ही नहीं है। इसी कारण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

वे परिपूर्ण ज्ञानी हुए हैं सो वे निरन्तर अपने आपमें भरे हुए आनन्द का अनुभव किया करते हैं। तो प्रभु में यों अनन्त ज्ञान है, अनन्त आनन्द है और ज्ञान का सहभावी अनन्त दर्शन है और इन सबको सम्हालते रहने की अनन्त शक्ति है। ऐसे व्यक्त अनन्त चतुष्टयमय सिद्ध प्रभु के समान सहजानन्द चतुष्टय स्वभावमय मुझ आत्मा का अन्तः स्वरूप है।

आत्मा व परमात्मा में अनन्तज्ञान स्वभाव की समानता— अष्ट कर्मों का ध्वंस करके अथवा अपने आपके शुद्धोपयोग को सम्हाल करके जिसके कारण अष्ट कर्मों का ध्वंस स्वयमेव हो जाता है, जिन संत आत्माओं ने शरीररहित होकर कर्मरहित होकर रागादिकविकाररहित होकर ऊर्ध्व-गमन स्वभाव के कारण लोक के अन्त में अवस्थान पाया है, ऐसे समस्त अनन्त सिद्धों में जो अनन्त ज्ञान पाया जाता है वह कहीं अन्य चीज नहीं है, अन्य जगह से आया हुआ विकास नहीं है, अनन्तज्ञानस्वभाव आत्मा में अनादि से है। वही अनन्तज्ञान स्वभावबाधक आवरणों के अभाव से स्वयं प्रकट हुआ है। जिस अनन्तज्ञान स्वभाव का आधार लेकर सिद्ध का अनन्त-ज्ञान प्रकट हुआ है वह आधार, वह अनन्तज्ञानस्वभाव हम में उस ही प्रकार है जैसा कि सिद्ध में है। सिद्ध भगवन्त में प्रतिक्षण केवलज्ञान उत्पन्न होते रहते हैं, वहां विसदृश परिणमन नहीं है यहां भी आधार तो वही है, शाश्वत है, किन्तु छद्मस्थ अवस्था होने के कारण हमारी दृष्टि अपने आपके स्वभाव का आधार बनाने की नहीं बन रही है। इससे अन्तर आया है सिद्ध प्रभु में और मुझमें।

आत्मा व परमात्मा में अनन्तदर्शन स्वभाव की समानता— प्रभु में जो अनन्तदर्शन प्रकट है वह कहीं अन्य जगह से आया हुआ नहीं है, किन्तु अनन्तदर्शन स्वभाव आत्मा में है, उसका आधार लेकर, आलम्बन करके अनन्तदर्शन प्रकट हुआ है, ऐसा अनन्तदर्शन स्वभाव ही बाधक आवरणों के अभाव से इस व्यक्त अनन्त दर्शन की स्थिति में हुआ है। जिस अनन्त दर्शन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वभाव का आधार लेकर सिद्ध भगवन्त अब भी प्रतिक्षण केवल दर्शन परिणमन से परिणमते रहते हैं वह आधार हम में भी है, किन्तु हम उस आधार का आलम्बन नहीं ले रहे हैं। कहीं बाह्य दृष्टि बन रही है, यहां नहीं समाया जा रहा है, यहीं अन्तर है। पर मूलस्वभाव को देखा जाय तो जो अनन्तदर्शन स्वभाव सिद्ध में है वही अनन्तदर्शन स्वभाव हम आप सब जीवों में है।

आत्मा व परमात्मा में अनन्तानन्दस्वभाव की समानता—ऐसे ही प्रभु में जो अनन्त आनन्द व्यक्त हुआ है वह अनन्त आनन्द किसी बाहरी जगह से नहीं आया। उसका कुछ भी लगार लेश आधार न हो और एकदम प्रभु में अनन्त आनन्द आया हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु अनन्तानन्दस्वभाव इस जीव में शाश्वत ही है। अनन्तानन्दस्वभावी इस चित्तत्त्व का उन संतों ने आलम्बन लिया जिसके प्रसाद से अनन्त आनन्द व्यक्त हुआ है। जिस अनन्त आनन्द स्वभाव का आधार लेकर अब भी अनन्तानन्दस्वभाव हम आप सब में है।

आत्मा में परमात्मस्वभावसाम्य होनेपर भी भिखारीपन और अज्ञानपर आश्चर्य—यों इस स्वभाव दृष्टि से हमारा और सिद्ध का स्वरूप समान है, परन्तु आज हम आपपर क्या बीत रही है कि भिखारी बने हुए हैं, अज्ञानी बने हुए हैं। भिखारी कहते उसे हैं जो दूसरों से भीख मांगे। जैसे यहां भिखारी लोग नजर आ रहे हैं। भीख मांगने का मतलब क्या है, भीख मांगने का मूल आधार क्या है? आशा। आशा लगी है कि यहां दो रोटियां मिल जायेंगी। यहां से कुछ पैसे मिल जायेंगे। इस आशा से भिखारी लोग घर-घर भीख मांगते हैं। यहां सभी संसारी जीव और कर क्या रहे हैं। इन्हें परपदार्थों से आशा लगी है सो प्रत्येक पदार्थ के निकट पहुंच-पहुंचकर उन पदार्थों से सुख-शान्ति की भीख मांगा करते हैं। यों संसार के प्राणी भिखारी हो रहे हैं और निपट अज्ञानी बन रहे हैं। जिनको अपने आपके ज्ञानस्वरूप की सुध नहीं है, जो इस आनन्दमय निज ज्ञानतत्त्व में

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

समाये जाने की बात सोचते नहीं हैं, जिनके ज्ञानप्रकाश में यह मार्ग आया भी नहीं है वे लोग चाहे कितने ही चतुर बनगए हों, पर उनकी चतुराई का उपयोग क्या ? बाह्य पदार्थों में आकर्षित होना और उनमें सुधार बिगाड़ करने की कल्पनाओं के विकल्पों में अपने क्षण गवाना, यहां कुछ मिलना नहीं है, अपना कुछ विकास होना नहीं है। इन व्यर्थ के झंझटों में उधेड़बुन में लगना यह क्या कोई विवेक का काम है ? यह तो प्रकट अज्ञान है। तो हम आपका स्वरूप इतना पावन सुगम स्वयं स्वाधीन आनन्दमय होकर भी आज जो स्थिति बीत रही है कि हम परपदार्थों के भिखारी बन रहे हैं और यहां अज्ञान में सदा लगे रहते हैं यह सब है इस आशा पिशाची का परिणाम।

इस असार संसार में शान दिखाने की व्यर्थता—यह दिखती हुई दुनिया जिसके लिए शान बगराई जा रही है यह दुनिया क्या है ? प्रकट मायास्वरूप, कर्म के प्रेरे नाना देहों में बंधने वाले जीवलोकों का समूह, जो स्वयं अशरण हैं, स्वयं दुःखी हैं। यह है मायामयी दुनिया, और फिर इस दुनिया का क्षेत्र कितना है ? अनगिनते योजनों का, जिसकी कोई संख्या ही नहीं है। ३४३ घनराजू प्रमाण इतनी बड़ी दुनिया जिसके समक्ष परिचयवाली दुनिया कितनी है ? जैसे बहुत बड़े स्वयंभूमरण समुद्र के आगे जल की एक बूंद, इतनी बड़ी दुनिया में यह परिचय की दुनिया है, और फिर यहां कितने समय रहना है ? सारा समय कितना होता है ? अनन्त। क्या कोई ऐसा सोच सकता है कि कोई ऐसा समय था कि जिसके पहिले कुछ समय ही न था, क्या कोई ऐसा सोच सकेगा कि कोई ऐसा समय आयगा कि जिसके बाद फिर समय ही न रहेगा ? इतना अनन्तकाल, जिसके सामने हम आपका यह १०-२०-५० वर्ष का समय कुछ गिनती भी रखता है क्या ? उसके लिए तो यह दृष्टान्त भी काफी नहीं बन पाता कि स्वयंभूरमण समुद्र के आगे जलकी एक बूंद। अनन्तकाल के सामने वर्षों की क्या बात ? एक दो कल्पकाल भी कुछ गिनती नहीं रखते। तब समझ लीजिए कि कितनी देर के लिए कितने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

से क्षेत्र में, किन लोगों में हम अपना कुछ बताना चाहते हैं ? अरे बताने का चक्कर छोड़ो। लोक में शान इज्जत बनाने का विकल्प तोड़ो। अपने आपके इस चैतन्य महाप्रभु की रक्षा करो जो तुम्हारे आनन्द का धाम है, जिसके प्रसाद से तुम्हारा भला हो सकता है उस कारण परमात्मतत्त्व की सुध लो।

ज्ञान खोये जाने की महती विपत्ति—यह आत्मा स्वरूपदृष्टि से सिद्ध के समान है किन्तु आशवश खोया ज्ञान। ज्ञान खोने के बराबर कोई दु:ख नहीं है, जिसे लोग दु:ख कहा करते हैं यह तो उनके पुण्य का ऊधम है। जरा साधन अच्छा मिला मिला, ठाठ से रहने को मिला तो जरा-जरासी बात में कल्पना करके दु:ख बना लेते हैं। जैसे चलते जा रहे हैं, किसी ने रामराम न किया तो यह पुण्यवाला पुरुष, अज्ञानी पुरुष व्यर्थ कल्पनायें करता है कि अब लोग इतना उद्दण्ड हो गए, ये देहाती भी राम-राम करना भूल गए—अरे भाई पहिले तुम्हीं राम-राम करलो, जीव तो सब समान हैं, लेकिन पुण्य के ये सब ऊधम हैं। जितने भी दिखावट, बनावट, सजावट आदि के ऊधम आज किये जा रहे हैं करलो, पर ये ऊधम सदा न निभेंगे। ज्ञान खोने के बराबर और कोई विपत्ति नहीं है, जिनका ज्ञान सावधान है, जो अपने ज्ञानस्वरूप की सम्हाल रखते है उनका वह ज्ञान है। जो ज्ञान अपने आपका भी स्वरूप नहीं समझ सकता, अपने आपका भी अनुभव नहीं कर सकता वह ज्ञान ज्ञान नहीं है बल्कि अज्ञान है।

प्रतिभासमात्रव अमूर्त आत्मस्वभावकी अनुभूतिका विधान—देखिये अपना स्वरूप सम्हालने के वास्ते आत्मा का अनुभव करने के अर्थ आप यदि लगन से केवल दो पद्धतियों में ही आत्मा का चिन्तन करेंगे तो आत्मानुभव में सफलता पायेंगे। अपने आपका चिन्तन करने से आप उस अन्त: आनन्द धाम में पहुंच सकते हैं, जिसके कारण ऐसी उत्कृष्ट प्रसन्नता होगी कि आप अपने आपको कृतार्थ करेंगे। इस कृतार्थता के अनुभव से बढ़कर अन्य कोई साम्राज्य नहीं। अपने को अमूर्त चिन्तन करने से इस मूर्त देह का भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भान नहीं रहता। वहां निरखें अपने को केवल जाननमात्र, प्रतिभासमात्र। तो अमूर्त और प्रतिभासमात्र इन दो पद्धतियों से अपने आपके अन्तः उपयोग को ले तो जाइये, वह आनन्द प्रकट होगा, वह प्रसाद होगा कि जिसके प्रताप से आप तुरन्त यह निर्णय कर लेंगे कि मेरे करने को तो बस यही एक काम है, दूसरा कोई काम ही नहीं है।

आत्मा की कामवशतापर खेद—इस ज्ञानस्वरूपकी सुध न रखनेसे ये जीव निपट अजान बन रहे हैं। इन सबका कारण है आशा। आशा होती है पञ्चइन्द्रिय और मनके विषयों सम्बंधी। जले मरे मुर्दा समान देहको लगाये हुए यह जीव स्पर्शन इन्द्रिय के वश होकर अपने आपके सारे लाभ को भूलकर एक जैसी कल्पना उठी उसके आधीन बनकर अपने क्षण गंवा देते हैं। परजीवों से स्नेहभाव बड़ाते हैं और हिम्मतभर ऐसे वचन कहते हैं कि कसर न रह जाय, पूरा स्नेह इसको विदित हो जाय और यह मान जाय कि हमपर इनका पूर्ण स्नेह है। अरे! स्नेह की बात करने वाले पुरुषों! क्या यह विदित नहीं है कि तिल में स्नेह है तो उस स्नेह के कारण तिल की क्या दुर्दशा होती? पानी में भिगोया जाता, ऊपर का छिलका छील दिया जाता, घानी में पेलकर कचूमर निकाल दिया जाता है। तो ऐसे ही स्नेह में आदर रखने वाले लोग अपने आपका कचूमर नहीं निकाल रहे हैं क्या? कायर बने, अविवेकी बने, अपने आपका कुछ गौरव विदित ही नहीं रहता।

ज्ञान और वैराग्य के लिये ही जीवने का ज्ञानी के संकल्प—यह सुविधा क्या परजीवों से स्नेह बढ़ाने के लिए है? हमारा यह नर जीवन क्या दूसरे जीवों से स्नेह बढ़ाने के लिए है? अरे स्नेह बढ़ाया, स्नेह लगाया तो क्या पा लोगे? वियोग तो होगा ही। रहने का तो कुछ है नहीं। न परिजन, न मित्रजन, न धनवैभव, साथ तो कुछ रहने का है नहीं। फल यह होगा कि जो पाप कमाया, जो पाप बंध किया, उनके कारण जन्म जन्मान्तरों में क्लेश सहने पड़ेंगे, जन्म संतति खलेगी। ज्ञान और वैराग्य के विकास

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

के लिए अपना जीवन है। बस यही एक अपना निर्णय रखिये, दूसरे काम के लिए मेरा जीवन नहीं है। लोग सोचते हैं कि जिस किसी प्रकार से धन वैभव का खूब संचय करलें और इस ही धुन के कारण न धर्म के लिए समय है, न रुचि है और न अन्तः कोई प्रेरणा जागृत होती है। अरे दुनिया के लोगों को देखलो—धन संचय कर करके आखिर उनको लाभ क्या मिलता है? हानि तुरन्त यह है कि ऐसे परम पावन उत्कृष्ट निज परमात्मतत्त्व के दर्शन नहीं हो पाते जिससे कि यह नर जीवन सफल हुआ करता है। यह भव ज्ञान और वैराग्य के विकास के लिए है, अन्य कार्य के लिए नहीं है।

रसना और घ्राण इन्द्रिय के वश होने का खेद—आशा के वश होकर लोग सरस भोजन करने की भी धुन में बने रहते हैं। कितना व्यर्थ का विकट ख्याल। क्या होता है इससे? जो शरीर जला दिया जायगा, जिससे कोई प्रीति करने वाला नहीं, स्वयं के लिए जो अनेक क्लेशों का कारण है, उसकी तृप्ति करने के लिए सरस भोजन की धुन बनाना यह एक ऐसी व्यर्थ की कल्पना है कि जिसकी ओट में सहज परमात्मतत्त्व के दर्शन नहीं हो पाते। कितनी ही आशायें ऐसी व्यर्थ की हुआ करती हैं कि जिनसे न इस जीवन की उन्नति का सम्बंध है और न परलोक की उन्नति का सम्बंध है। कितने ही लोग घ्राणेन्द्रिय के विषय की आशा में समय गंवाते हैं। इतनी तरह के इत्र, ऐसे ऐसे फूल, ऐसी सुगंध होने चाहिए, उसमें रत रहते हैं। सुगंधित तैल इत्र शिर में लगायें, माथे में लगायें, कानों में लगायें, कोट कमीज आदि में लगायें, यों अनेक तरह से सुगंध लेते हैं। अरे इन आशावों में, इन व्यर्थ की कल्पनाओं में रहकर अपने आपकी सुध नहीं ली जा सकती। विरक्ति से ही ज्ञान का अनुभव पाया जा सकेगा। राग से, आसक्ति से अपना कुछ नहीं पाया जा सकता।

चक्षु और कर्ण इन्द्रिय के वश होने का खेद—रूप के अवलोकन की बात देखो—दूर से ही रूप का खिचना होता है, लाभ कुछ नहीं मिलता,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हाथ कुछ नहीं लगता, वह तो एक अलग पर्याय है, पर कैसी कल्पनायें बना लेता है यह जीव। सनीमा हालों में बड़ी भीड़ रहा करती है, और-और भी अनेक समय, न जाने कहां-कहां इसकी दृष्टि, इसकी धुन रहा करती हैं। व्यर्थ की वे बातें हैं जिनसे न इस ही जीवन की उन्नति का कुछ सम्बंध है और न परलोक की उन्नति का ही कुछ सम्बंध है। ऐसे ही राग-रागनीभरे शब्द सुन लिया, उसमें हो गए विभोर। अरे तो उससे लाभ क्या पाया? अपने आपमें विराजमान सहज परमात्मतत्त्व के दर्शन से तो वंचित हो रहे।

मन के अनुसार स्वच्छन्द प्रवर्तन का खेद—मनके विषय की तो कहानी ही क्या कहें—इस मन ने तो सभी संज्ञी जीवों को हैरान किया। क्या-क्या चाहते हैं दुनिया में रहकर लोग? इसका यदि विश्लेषण हो तो उसमें सार रंचमात्र भी नहीं निकलता। जैसे एक कथानक है कि कोई सन्यासी लड्डू लिए हुए चला जा रहा था। रास्ते में उसके हाथ से छूटकर लड्डू नीचे जमीन में गिर गया। वह शौच की हुई जगह थी। पर लड्डू में आशक्ति होने के कारण सन्यासी ने वह लड्डू उठा लिया, पर उसे कुछ भान हो गया कि हमको इस जगह से लड्डू उठाते हुए कुछ लोगों ने देख लिया है, सो उस बात को ढांकने के लिए संन्यासी ने उस शौच वाली जगह पर कुछ फूल डाल दिये। लोगों ने देखा कि महाराज ने इस जगह फूल चढ़ाये हैं, इस जगह कोई देवता होगा। यह सोचकर उन लोगों ने भी उसी जगह फूल चढ़ा दिया। यों ही अन्य बहुत से लोगों ने भी उस जगह देवता समझकर फूल चढ़ाया। यों उस जगह फूलों का एक बहुत बड़ा ढेर लग गया। अब वहां देखो अगर कोई तथ्य उस जगह समझना चाहे तो फूलों को उस जगह से निकाल-निकालकर फेंक दे। सार वहां क्या मिलेगा, कुछ भी नहीं, और प्रवृत्तियां कितनी अधिक हो गयीं। इसी तरह मन की जो इच्छायें चलती हैं, जिनके कारण हम अनेक प्रवृत्तियां किया करते हैं, अगर वहां विश्लेषण करके देखा जाय तो क्या मिलेगा? वहां रंचमात्र भी सार नजर न आयगा।

http://sahjanandvarnishastra.org/

लेकिन जीव आशा के वश होकर, ज्ञान खोकर भिखारी बने हैं, निपट अजान बने हैं। एक उस अमूर्त प्रतिभासमात्र अन्तस्तत्त्व के दर्शन से ये सारे संकट दूर हो सकते हैं।

आशा की तरंग के क्षोभ का क्लेश—जीव को क्लेश है तो एकमात्र आशा की तरंग के उत्पन्न होने का है। जिस जीव को ऐसी तरंग उत्पन्न नहीं होती, चेतन अचेतन किसी भी पदार्थ के सम्बंध में आशा का भाव नहीं जागता, किसी प्रकार का राग या उनसे अपने लिए कुछ चाहने की बात नहीं होती है, वह पुरुष स्वयं ही आनन्दमय है। आनन्द में बाधा डालने वाली यह आशा है। जैसे समुद्र बहुत शान्त अवस्थित है, उसमें क्षोभ मचाने वाला कोई पत्थर को पटक देता है, पत्थर पटका गया तो लो, तभी उसमें भंवर, लहर हुई। यों ही यह आत्मा ज्ञानी है, ज्ञानज्योति से लबालब भरा हुआ है। इसके अन्दर में प्रदेशमात्र का भी ज्ञानघनता में अन्तर नहीं। ऐसे ज्ञानघन शान्त गम्भीर इस आत्मा में जैसे ही आशा का पत्थर गिरा कि झट तरंग उठी, और यह आत्मा अपने आपको खलबला कर बरबाद होता है, अशान्त होता है। जरुरत क्या पड़ी है कि किसी पदार्थ की आशा का भाव चित्त में लायें ? बहुत विवेक से अपने अन्तः स्वरूप के निकट ठहर-ठहरकर निर्णय तो करिये। क्या यह आत्मा कुछ आनन्द से खाली है ? आनन्द नहीं है इसके पास सो दूसरे से आनन्द मिल जायगा एतदर्थ ही किसी की आशा की जायगी, सो इस सम्बन्ध में प्रथम तो यह बात है कि आत्मा में यदि आनन्द-स्वभाव न होता तो कितने भी निमित्त जुटाये जायें, तो भी इसमें आनन्द का विकृत अंश भी उत्पन्न नहीं हो सकता था। बालू में यदि तैल नहीं है तो कितना ही उसे घानियों में पेला जाय, पर क्या उससे तैल निकल आयगा ? नहीं निकल सकता। फिर दूसरी बात यह है कि आत्मा के विशुद्ध आनन्द का अभ्युदय इस ही स्थिति में है कि यह किसी परकी ओर अपनी दृष्टि न करे, अपना आकर्षण न बनाये। किसी भी परके सम्बंध में स्नेह की बात न लाये।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आशा से तो आनन्द में मदद नहीं मिलती । यों आशा करना बेकार है।

विषयाशा में कालनिर्यापन और उससे क्लेशवर्द्धन—भव-भव में जो-जो समागम मिले उन-उन समागमों में इस जीव ने आशा रखी, न वे समागम रहे न ये आशा की वृत्तियां रहीं और यह जीव संसार में रुलता चला आ रहा है, यह उसका फल मिला। जो चीजें १०-५ वर्ष बाद संग में रहेंगी, कुछ दिन बाद में न रहेंगी, उनके लिए अभी से हिम्मत बनाकर मानलें कि ये कुछ भी चीजें मेरी नहीं हैं, उनसे मेरे में कुछ भी अभ्युदय नहीं होता है, बाधा ही होती है। छूटना तो सब कुछ है ही, पहिले से अपने को छूटा हुआ विविक्त ज्ञानस्वभावमात्र निरखते रहें तो तत्काल भी आनन्द पा लिया जायगा और कर्मबन्ध भी इसके कट जायेंगे, अपना सार शरण सर्वस्व अपने आपके अन्तः मौजूद हैं। अपनी समृद्धि किसी अन्य पदार्थ से प्राप्त होती नहीं है। ऐसे अपने इस ज्ञानस्वभाव की सम्हाल न करके ये अज्ञानी जीव पञ्चेन्द्रिय के विषयों की और मनके विषयों की आशा कर रहे हैं, इसी कारण ये भिखारी और अज्ञानी बने हुए हैं। देखो—मनुष्य के अतिरिक्त अन्य जीवों पर दृष्टि डालकर जैसे कि अनेक जीव ऐसे हैं कि जिनको अपना कोई प्रमुख एक ही विषय सता रहा है, अन्य विषय नहीं सता रहे। और, वे एक ही विषय के सताये हुए होकर अपने प्राण गंवा देते हैं। फिर तो ये मनुष्य ५ इन्द्रिय और छठा मनः इन छः विषयों से सताये हुए हैं, इनकी क्या गति होगी ?

स्पर्शनेन्द्रिय के वश होकर आत्महिंसन का प्रयत्न—हाथी को पकड़ने वाले शिकारी लोग जंगल में ४०-५० हाथ का लम्बा, चौड़ा कुछ गहरा गड्ढा खोदते हैं, उसपर बांस की पतली पंचे बिछाते हैं और उसपर कागजों से सजाकर एक हथिनी बनाते हैं जो सच्ची हथिनी की तरह जंचती हो। साथ ही ४०-५० हाथ दूर एक झूठा हाथी भी बनाते हैं, किसलिए बनाते हैं शिकारी लोग, यों कि जंगल में रहने वाला कोई हाथी इस हथिनी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

को सच्ची हथिनी जनाकर स्पर्शनइन्द्रिय के वशीभूत होकर इस हथिनी के पास आये तो है क्या वहां ? बांस की पंचें बिछी हैं वहां आते ही वह हाथी गिर जायगा और उस हाथी को कुछ सोचविचार करने का भी मौका न दिया जाय, जरा नजदीक आकर कुछ ऐसा न सोच बैठे कि जरा फूंक-फूंककर पैर धरें, कहीं यह धोखा तो नहीं है, इसके लिए बनाया है ४०-५० हाथ दूर पर ऐसा हाथी कि इस सच्चे हाथी को कुट्टिनी के पास पहुंचने की जल्दी मच जाय। यह दूसरा हाथी न आ जाय, इससे पहिले मैं वहां पहुंच जाऊं, ऐसा उस हाथी को मोह भी हुआ, राग भी हुआ, द्वेष भी हुआ। मोह तो अज्ञान है। मोह तो यों हुआ कि उस हाथी को स्पर्शनइन्द्रिय की तीव्र आसक्ति के कारण ज्ञान न रहा कि है क्या यहां ? राग तो उत्पन्न हुआ ही था कुट्टिनी को देखकर, और द्वेष हुआ उस कल्पित हाथी से। तो यों मोह रागद्वेश के वश होकर हाथी गड्ढे में गिर पड़ता है। बस शिकारी का काम बन गया। दो-चार दिन भूखा रहने दिया तो वह हाथी निर्बल हो गया। अब उस गड्ढे में वह रास्ता बनाता है और अंकुश के बलपर उस हाथी को अपने आधीन करके बाहर निकाल लेता है। अथवा वह कैसी भी अवस्था पाये। तो देखो—स्पर्शनइन्द्रिय के वश होकर हाथी ने अपने को विकट बन्धन में डाल दिया। प्राण भी मानो गंवा दिये। तो यह किसका परिणाम है ? एक स्पर्शनइन्द्रिय के विषय की आशा की, उसका परिणाम है।

आशा का विकट बन्धन—कोई चिड़ीमार जंगल में जाल बिछाये था। नीचे चावल के दाने पड़े थे। चिड़िया आकर उसमें फंस गई। तो देखने वाले लोग कहते हैं कि देखो यह शिकारी बड़ा निर्दयी है, इसने चिड़िया को फांस लिया है। दूसरा बोला—शिकारी निर्दय नहीं है यह जाल निर्दय है, इस जाल ने चिड़िया को फंसाया। तीसरा बोला—जाल ने चिड़िया को नहीं फंसाया, चावल के दानों ने चिड़िया को फंसाया। चौथा बोला—इन चावल के दानों ने चिड़िया को नहीं फंसाया, इस चिड़िया ने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जो अपने मन में आशा उत्पन्न की, इच्छा की, उसने चिड़िया को फंसाया सारा बन्धन आशा का ही तो है। घर में कोई लड़ाई होती, भाई-भाई, पति-पत्नी, देवरानी-जेठानी की। लड़ने के मूड में तो वे ऐसा प्रदर्शन करते हैं ये लोग कि मानों अब वे इस घर में ही न रहेंगे। मगर होता क्या? सामको सुलह हो जाती है। घर में रहते हैं, जायें कहां? बन्धन तो लगा है आशा का। कोई पुरुष किसी काम से परदेश चला गया। तो देखो बहुत कुछ झगड़ा तो टूट गया ना, बहुत दूर चला गया। अब लोग भी सामने नहीं हैं, लेकिन चला कहां गया? आशा का बन्धन तो लगा है, वह तो आयगा यहां ही। आशा का बन्धन इतना बड़ा बन्धन है। जैसे गाय का बछड़ा तीन दिन का है, एक गांव से दूसरे गांव में गाय को लेजाने वाले लोग करते क्या हैं? गाय को रस्सी से बांधकर नहीं ले जाते, किन्तु बछड़े को बांधकर आगे-आगे ले जाते हैं या कमजोर हुआ बछड़ा तो उसे गोद में उठाकर ले जाते हैं। आशा का इतना तेज बन्धन गाय में है कि बिना बंधी वह गाय उस पुरुष के पीछे-पीछे चलती जाती है। अरे जिससे काम पड़ता है ऐसे अपने स्वरूप को तो देखो। जिससे अपने आत्माराम का गुजारा चलता है जरा उस आत्माराम के दर्शन तो करो। वह तो अमूर्त प्रतिभासमात्र है, उसका जगत में क्या? किसी अन्य से सम्बंध क्या? इसका गुजारा तो अपने आपके इस अमूर्त प्रतिभासमात्र स्वरूप के निकट रहने में ही है। बाकी तो सब विडम्बनायें हैं।

रसना इन्द्रिय के वश होकर आत्महिंसन का प्रयत्न—मछलियों को पकड़ने वाले शिकारी लोग डोरी में कुछ थोड़ा कोई जीव जन्तु मारकर उसका मांस लगा देते हैं जिससे मछली मांस के लोभ से बहुत शीघ्र ही आती है और मुंह फैलाकर उस मांस को ग्रहण करती है। वहीं था लोहे का टेढ़ा-मेढ़ा फंदा, उससे कंठ फंदे में फंस जाता है। हुआ क्या कि एक रसना इन्द्रिय के विषय की आशा से, विषय के लोभ से उस मछली ने अपना

Version 1

प्राण गंवा दिया। यहां हम आप लोग रोज-रोज अपने घर खाते हैं तो खूब मनमाना जो ध्यान में आया वैसा ही मजेदार सरस भोजन बनवाते हैं। सोचते होंगे कि यहां तो हमारे प्राणोंपर कोई फंदा नहीं डलता। रसना इन्द्रिय को भी तृप्त कर लेते हैं, मौज भी मान लेते हैं पर हमारे प्राणोंपर तो कोई फंदा नहीं आता। अरे तुम्हें पता भी है, तुम्हारा प्राण असली है भी क्या ? आत्मा का वास्तविक प्राण है चेतना, प्रतिभासमात्र। वह प्राण तो दबुच गया है, उस चैतन्यप्राण का तो घात ही हो रहा है। कर्मबन्ध हो रहा है और दुर्लभ मनुष्यजन्म का समय व्यर्थ व्यतीत हो रहा है। और, जिसको रसना इन्द्रियका इतना तीव्र लोभ है वह यह न समझे कि मुझको एक इन्द्रिय के विषय का ही लोभ है। रसना इन्द्रिय के विषय की आशक्ति तो एक समस्त विषयों की आशक्ति जानने का यंत्र है। वह इन विषयों की आशा से अपने चैतन्यप्राण का घात कर रहा है। उन मछलियों को कीर्ति, नेतागिरी, यश आदिक के कोई विषय तो नहीं सता रहे। हां, वे मछलियां एक दूसरे से लड़ती भी हैं, एक दूसरे को ढकेलती भी हैं, मन उनके भी हैं, बात आती होगी चित्त में, अरे इसने मुझे तुच्छ समझ रखा, किन्तु कोई बड़ी बात उन मछलियों के मन में नहीं आती जितनी कि मनुष्यों के मन में आती है। देखो ऐसी समझदार मछलियां भी रसना इन्द्रिय के वश होकर प्राण गंवा देती है।

घ्राण इन्द्रिय के वश होकर आत्महिंसन का प्रयत्न—कमल का फूल, उसकी पंखुड़ी कितनी कोमल और कमजोर होती है, लेकिन उस कमल के फूल में कोई भंवरा सामको बैठ जाय और उसकी सुगंध में इतना मस्त हो जाय कि वहां से हटने का ख्याल न रखे, सामको हो जाता है फूल बन्द। उस बन्द कमल में वह भंवरा जो कि बड़ी काठ की कड़ियों को भी छेद करके पार निकल सकता है वह आशक्तिवश कमल के अत्यन्त कोमल पत्तों को भी छेदकर नहीं निकलना चाहता और उस कमल में ही छिपा हुआ

अपने प्राण खो देता है। घ्राणेन्द्रिय के विषय की इतनी तीव्र आसक्ति होती है। वहां किया क्या ? आसवश खोया ज्ञान। फल क्या पाया ? मरण। कोई-कोई मनुष्य सुगंध के इतने लोभी होते हैं कि उनके रहने के कमरे को, उनके पहिनने के वस्त्रों को, उनकी उन सजावटों को देखकर कोई मनुष्य ऐसा शीघ्र कह भी देते हैं कि ये सब इनके नखरे हैं। नखरे का अर्थ क्या ? न खरे, जो खरा नहीं है, जहां तंत की बात नहीं है, जहां कोई तत्त्व की बात नहीं है उसको कहते हैं नखरे।

चक्षुरिन्द्रिय के वश होकर आत्महिंसन का प्रयत्न—रूप में अवलोकन की आशा इतनी भद्दी आशा है कि जहां कुछ मतलब नहीं, प्राप्ति नहीं, कुछ लाभ नहीं, कोई सम्बंध नहीं, लेकिन जो इष्टरूप जंचा उसके अवलोकन की आशा और प्रवृत्ति बना लेते हैं। होता क्या है ? आशवश खोया ज्ञान। मैं कौन हूं, मेरा क्या नाम है, इसका ऊपरी विवेक भी नहीं रहता, आत्मतत्त्व के विवेक की तो कथा ही क्या है ? देखो दीपक के पतिंगों को कैसा रूप का लोभ है कि उनसे रहा नहीं जाता और जलते हुए दीपपर एकदम गिरते हैं। क्या पाने के लिए गिरते हैं ? कितना तीव्र लोभ है, फल क्या होता है कि मर जाते हैं ? क्या उनको यह बोध नहीं है कि यहां १०-२० पतिंगे मरे पड़े हैं क्या उन्हें दिखता नहीं है ? क्या उन्हें इतना भी बोध नहीं है कि ये मेरी बिरादरी के सारे मरे पड़े हैं ? नहीं हैं उनके मन, पर मनका काम तो हित अहित का विवेक करा सकना है। मन में हित अहित का विवेक करने का सामर्थ्य है सो प्रबल ठहरा ना। सो जब उल्टा चलें तो यह मन विषयों की आशा को बढ़ा देता है। पर, मन न हो तो विषयों की आशा न हुआ करती हो यह बात नहीं है। चार संज्ञाओं से पीड़ित यह प्राणी विषयभोग विषयक तो ज्ञान कुछ ऐसा ही रखता है जैसा कि संज्ञी लोग। वे पतिंगे कुछ भी विवेक न रखकर एकदम, रूप के लोभ में दीपकपर आ गिरकर प्राण गंवा देते हैं। यह है क्या ? आशवश खोया ज्ञान। उन मनुष्यों

http://sahjanandvarnishastra.org/

की भी ऐसी ही दुर्दशा होती है जो रूप के आशक्त होते हैं।

कर्ण इन्द्रिय के वश होकर आत्महिंसन का प्रयत्न—कर्ण इन्द्रिय के वश होकर सर्प बीन की आवाज में, राग में मस्त होकर निकट आ जाते हैं। अपनी सुध भूल जाते हैं, सपेरा पूंछ की ओर से पकड़कर तुरन्त ही बड़ा झटका देता है। ज्यों ही पीछे पकड़कर झटका दिया कि उसके सारे बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। देखो सर्प के संहनन का उदाहरण असंप्राप्तस्सपाटिका संहनन को दिया जाता है। तेज झटका देने से सर्प की नसें पञ्जर को छोड़कर शिथिल हो जाती हैं। हिरण भी इसी तरह वश में किए जाते हैं। तो एक-एक इन्द्रिय के विषय के वश होकर इस प्राणी ने अपने प्राण गंवाये। और, यहां संसार में लोकोत्तम दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर फिर विषयों की आशा का आशय बनाये रहें तो इस मनुष्यभव से कितनी दुर्गति हो सकती है। कहीं भी किसी भी गति में चला जाय, इस मनुष्य को कोई रुकावट नहीं है। निगोद बन जाय, पेड़-पौधे बन जायें, पशु-पक्षी बन जाय, नारकी बने, कहीं भी उत्पन्न हो सकता है। किया क्या इस जीव ने? आशावश खोया ज्ञान। परिणाम क्या हुआ? बना भिखारी निपट अजान।

स्नेह परिचयन का लोभ—परिजन को किसी को स्नेह मेरा समझ में आ जाय कि यह मुझ से बड़ा स्नेह रखता है, इस ही समझ का बड़ा लोभ लगा हुआ है। मिला क्या? एक अपनी यह कल्पना बना लेने से कि यह भाई मुझको बहुत अधिक चाहते हैं। यहां पा क्या लिया? यों अटपट बेतुकी आशा को यह जीव करता है। यह ध्यान में नहीं लाता कि मैं क्या हूं और क्या कर रहा हूं? इन दोनों का उत्तर अपने अन्तः देखो—मैं क्या हूं? मैं वह हूं जो हैं भगवान। मेरा स्वभाव स्वरूप क्या है? मेरा स्वरूप सिद्ध समान है। अरे हम वह हैं जिसमें किसी का लेप ही नहीं चढ़ सकता। प्रतिभासमात्र, जिसके कारण ऐसा उत्कृष्ट मेरा चैतन्यस्वरूप है जो सतत, सहज परम अनन्त आनन्द स्वभाव से भरा हुआ है। पर, अपने आपका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

विश्वास खो दिया जिसका फल यह है कि दुर्गतियों में जन्म-मरण करके आशा में ही सारा जीवन क्लेश में व्यतीत करना पड़ता है।

संकटनिवृत्ति लिये सहज अन्तस्तत्त्व की आराधना का अनुरोध—भैया! एक हिम्मत करने की बात है, और एक बार भी सर्व परपदार्थों की उपेक्षा करके सहज स्वभाव में अपने उपयोग को लगाने की बात है। आत्मा ज्ञानी है, समझदार है। उस स्वभाव का अनुभव होनेपर, आनन्द का अनुभव होनेपर फिर इस आत्मा में यह बल व्यक्त हो जाता है कि वह संसार के सारे संकटों से अवश्य छूट जाता है। जो उपाय सर्व संकटों से छुटाने वाला है, उस उपाय के लिए ५ मिनट भी समय नहीं देना चाहते। उस उपाय के लिए साहस बनाकर समस्त विश्व को भुलाना नहीं चाहते। देखो, चलो अपने स्वरूप की ओर, इस स्वरूप की सुध में यह सारा भिखारीपन नष्ट हो जायगा। सो इस स्वभाव की, इस स्वरूप की सुध लीजिए और अपने को कृतार्थ करिये। वह स्वरूप क्या है मेरा जिसका आलम्बन लेने से सारे संकट टलते हैं? मैं स्वतंत्र हूं, स्वभावत: निश्चल हूं, समस्त विकारों से परे हूं। ज्ञाता द्रष्टा ऐसा यह मैं सतत जाननहार आत्माराम हूं।

जीवों का समस्त प्रवर्तनों में सुखप्राप्ति का प्रयोजन—सुख और दु:ख का देने वाला अन्य कोई नहीं है, अपना ही मोह राग द्वेष रूप परिणाम दु:ख की खान है, दु:ख को उत्पन्न करने वाला है अथवा ये परिणाम ही स्वयं दु:खस्वरूप है। जीव लोक सभी सुख चाहते हैं और दु:ख से डरते हैं। और वे जितने भी प्रयत्न करते हैं वे सुख के अर्थ प्रयत्न करते हैं। सुख इतनी महती अभिलाष्य चीज हो गयी, कि अन्य-अन्य भी जो कुछ चाहा जाता है वह भी सुख के लिये, अर्थात् सुख का प्रयोजन सब प्रयोजनों में मुख्य प्रयोजन है, बल्कि यों कहो कि जितने भी और-और नाम से प्रयोजन कहे गए हैं वे सब सुख प्रयोजन की पूर्ति के लिए हैं। कोई लोग कहते हैं कि मुझे तो प्रयोजन सिर्फ विद्याध्ययन से है अथवा कोई कहते हैं कि मुझे तो सिर्फ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इतना ही प्रयोजन है कि मेरा मकान बन जाय आदि। तो इन सब प्रयोजनों में भी एकमात्र प्रयोजन है सुख प्राप्ति का। जिस किसी भी प्रकार सुख मिले वैसा प्रयत्न सभी जीव करते हैं। यहां तक भी प्रयत्न करते कि लोग कुवें में गिरकर, आग में जलकर अपने प्राण खोकर भी चाहते क्या हैं? सुख ही चाहते हैं। उनकी कल्पना में यह बात आयी कि हमें तो कुवें में गिरकर या आग में जलकर मरण कर जाने में सुख मिल जायगा। कोई कषाय जगी कि हम जलकर मर जायेंगे तो जिसने मुझे सता रखा है, यह पकड़ा जायगा, कैद में जायगा, फांसी होगी, तो इसकी अकल ठिकाने आयगी,इस प्रकार की बात मन में रखकर कुछ क्रोधावेशी लोग अपनी हत्या कर लेते हैं। इन सब बातों में भी मूल प्रयोजन है सुख प्राप्ति का। सारांश यह है कि सभी जीव सुख चाहते हैं।

विपरीत उपाय से सुखप्राप्ति का अभाव—अनादिकाल से अब तक सुख के अर्थ इतने प्रयत्न किये जानेपर भी सुख का लेश भी प्राप्त नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि जिस तत्त्व की प्राप्ति का जो उपाय है उस ही उपाय से वह तत्त्व प्राप्त हो सकता है। सुख प्राप्त करने के अन्य सब उपाय हैं ही नहीं। बाह्य पदार्थों में कुछ से कुछ परिणमन चाहना यह सुख प्राप्ति का उपाय नहीं है। सम्बंध क्या है किसी परसे मेरा? किसी परकी परिणति से मुझ में परिणमन नहीं हुआ करता। सिद्ध अवस्था में तो रंच भी लगाव नहीं है परपदार्थ का। यहां ही लगाव का अनुभव किया जाता है। वस्तुत: यहां भी रंचमात्र लगाव नहीं, फिर भी यहां वैभव जोड़ने में भी हम परपदार्थों पर दृष्टि देकर उसको कल्पना में रखकर अपने आपके परिणमन से हम राजी रहा करते हैं। बाह्य परिणमन के कारण मुझ में राजीपन नहीं आता। सुख और दु:ख का देने वाला जगत में अन्य चेतन या अचेतन कोई पदार्थ नहीं है, किन्तु प्राणी बाह्य पदार्थ से ही सुख-दु:ख समझकर उनके संग्रह विग्रह के प्रयत्न में लगे रहते हैं, होता है इस प्रयत्न से क्लेश। जो क्लेश का उपाय है उसके करने से सुख प्राप्त कैसे हो सकता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

निमित्तभूत पदार्थ में कर्तृत्व की अनाश्रयता—सुख-दुःख का निमित्त कर्म है। सो स्वरूप दृष्टि से देखो तो कर्म भी सुख और दुःख का देने वाला नहीं, किन्तु सुख-दुःख परिणमन में कर्म निमित्त हैं। निमित्त उसे कहते हैं कि जो कार्य में मिलकर तो रहे नहीं, किन्तु जिसके अभाव में कार्य होवे नहीं। जैसे घड़ा बनने में निमित्त कुम्हार का व्यापार है तो कुम्हार का व्यापार, कुम्हार के हाथ-पैर की क्रिया घड़े में तो रहती नहीं। घड़ा अलग चीज है लेकिन कुम्हार के उस प्रकार के व्यापार के बिना घड़े की उत्पत्ति नहीं होती है। जैसे एक पेन्सिल छीली गई तो उस पेन्सिल के छिलने में हम आप निमित्त हैं। तो देखलो, हम आपके हाथ-पैर अथवा हम आपकी हाथ-पैर आदि की कुछ भी क्रिया पेन्सिल में नहीं बनी, पर उस व्यापार के बिना पेन्सिल छिली नहीं। तो निमित्त का लक्षण यह है कि जिसका नैमित्तिक के आश्रय में अत्यन्ताभाव हो, किन्तु नैमित्तिक के साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बंध हो उसको निमित्त कहते हैं। आप यह बात घटाते जाइये हर जगह। अग का निमित्त पाकर जल गर्म हो गया। पर वस्तुतः जल के गर्म होने में आग निमित्त है, उपादान नहीं। इसी कारण आग का कोई अंश जल में नहीं पहुंचता। आग का अंश जल में पहुंचे तो आग बुझ जायगी, आग ठहर ही नहीं सकती। तो आग का जल में अभाव है, पर आग जैसी तप्त चीज के अभाव में जल गर्म नहीं हुआ, ऐसा अन्वय व्यतिरेक सम्बंध है, पर उपादान में अत्यन्ताभाव है। ऐसे ही प्रत्येक बात में आप लगा सकते हैं। यहां तक कि जल में रंग डाल दिया तो रंग पानी में घुल-मिल गया। इतने पर भी रंग के निजी स्वरूप का जल के निजी स्वरूप में प्रवेश नहीं है, लेकिन अन्वय व्यतिरेक सम्बंध है जल के उस प्रकार रंगीन प्रतिभासने का। कठिन से भी कठिन कोई सम्बंध हो द्रव्य द्रव्य का, वहां पर भी आप यही प्रक्रिया पायेंगे। हां उदाहरण जो अभी पुद्गल पुद्गल के दिए गए हैं उनमें एक पुद्गल उस प्रकार के परिणमन को अपने में कभी रख सकेगा, लेकिन वर्तमान में जो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

निमित्त है वह नैमित्तिक में प्रविष्ट नहीं है। तो कर्म जो जीव ने कषाय करके बांधे हैं उन कर्मों का जब उदयकाल आता है तो जीव में सुख और दु,ख परिणति होती है। लेकिन उन कर्मों का कार्य इतना ही मात्र है कि वे खिर रहे उदय पाकर। अब उस सविपाक क्षण का निमित्त पाकर जीव में सुख-दु:ख उत्पन्न हो रहा है।

आश्रयभूत पदार्थों में भी कर्तृत्व की अनाश्रयता—जब सुख-दु:ख का देने वाला निश्चय से कर्म भी नहीं है तो फिर शेष जो दृश्यमान पदार्थ हैं ये तो निमित्त भी नहीं हैं, आश्रयभूत हैं उनका क्या कर्तृत्व। यह जीव अपने उपयोग में जिस पदार्थ को विषय करता है, जिसमें अपना दिल लगाता है वह पदार्थ इसके सुख और दु:ख का आश्रय बन जाता है। तो ये सब आश्रयभूत पदार्थ हैं। आश्रयभूत पदार्थ के साथ परिणति का व्यावहारिक सम्बंध उतना भी नहीं होता जैसा कि निमित्त के साथ नैमित्तिक कार्य का सम्बंध होता है। तो ये बाहरी पदार्थ निमित्तभूत हैं अथवा आश्रयभूत हैं ? ये मुझे सुख और दु:ख के देने वाले नहीं हैं। यहां ही देखलो, कोई-कोई पुरुष जरा-जरासी बात में चिढ़ जाते हैं और कोई पुरुष बहुत-बहुत कहने पर भी शान्त रहा करते हैं। तो इतना फर्क क्यों है ? वह गाली तो दोनों के लिए बराबर है, पर फर्क उनके उपादान का है, उनके निजके परिणाम का है। एक पुरुष तो धीर है, गम्भीर है, विवेकी है, संसार की असारता का जानकार है। उसे अपने आपमें तृप्त रहने की धुन बनी है तो वह शान्त रहता है। और एक पुरुष में आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं है, बाह्य पदार्थों की और दृष्टि बनाये रहता है, बाह्य के सुधार बिगाड़ में ही तृप्त रहता है, उसे जरासी भी बात सुनकर क्षोभ आ जाता है। तो ये सारे अन्तर भी यह सिद्ध करते हैं कि सुख–दु:ख का देने वाला कोई अन्य पदार्थ नहीं है। अपना ही परिणाम अपने को सुख और दु:ख का कारण बनता है।

मोह की प्रेरणा का फल कुपथगमन—आत्मा को सुख दु:ख देने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

देने वाला परिणाम क्या है ? मोह, राग और द्वेष। मोह नाम है अज्ञान का, विवेक न जग सकना। मैं क्या हूं ? इस प्रकार की सुध न हो सके जिस भाव के कारण उस भाव को कहते हैं मोह। मोह भाव में आत्मा की सुध भी नहीं की जा सकती। देख लीजिये अब, कितना कठिन दु:खमयी परिणाम है मोह। एक वकील ने एक घटना सुनायी थी कि एक किसान के लड़के में और किसी व्यापारी के लड़के में कुछ झगड़ा हो गया। हुआ तो लड़कों में झगड़ा, पर व्यापारी के लड़के की मां ने गुस्से में आकर किसान के लड़के को चांटा मार दिया। इस बात को देखकर किसाननिन ने यह संकल्प कर लिया कि मैं जब तक इसके लड़के को मार न लूँगी तब तक चैन नहीं। आखिर उसे दो-तीन दिन खाना-पीना तक न सुहाया। मिठाई का लोभ देकर किसानिन ने उस व्यापारी के लड़के को अपने घर बुलाया और उसे मारकर जमीन में गाड़ दिया। बाद में जब मालूम हो गया, वह पकड़ी गई तो अदालत में उसने बयान दिया कि ऐसी मेरे भीतर प्रेरणा जगी कि उसके मारे बिना मुझे चैन नहीं पड़ी, दो-तीन दिन से हमसे कुछ खाया-पिया ही नहीं गया। तो जब मोह द्वेष की ओर प्रेरणा देता है तो इतना अनर्थ करा देता है, और जब मोह राग की ओर प्रेरणा देता है तो आपने रक्तारानी और देवरती की कथा सुनी होगी। अपनी रानी रक्ता के अनुराग में देवरती राजा ने सारा राजपाट छोड़ दिया और जंगलों की खाक छानी। उसी रक्ता रानी की हालत देखो—देवरती तो चला गया बाजार और रक्ता रानी मौका पाकर एक कूबड़े-लूले किसान के मधुर गीत में आशक्त होकर उसके पास पहुंची और बोली कि अबसे आप हमारा साथ निभाइये। आखिर वह रक्ता रानी देवरती को जन्मदिवस मनाने के बहाने पहाड़पर ले गई, उसने मजबूत धागों से बांध दिया, और तेजी से धक्का मार दिया। देवरती लुढ़कते-लुढ़कते नदी में जा गिरा। वहां रक्ता टिपारे में लूले को सिरपर रखे और पतिव्रता जाहिर कर नाचे कमाये। आगे क्या हुआ सो उनका अपना अपना भाग्य,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लेकिन यहां यह देखिये कि जब मोह राग की प्रेरणा देता है तो क्या-क्या आपत्तियां आती हैं। सर्व विपदाओं की मूल विपदा है मोह, अज्ञान।

अपनेपर अपनी जिम्मेदारी समझने का संदेश—भैया! थोड़ीसी सम्पदा पाकर मौज में अपने को बड़ा कृतार्थ समझ रहे हैं लोग, पर यह नहीं जान रहे कि मुझ में जो मोह लदा है उससे इस सहज परमात्मतत्त्व के जो दर्शन नहीं होते, वह अमूर्त प्रतिभासमात्र आत्मपदार्थ जो हमारे उपयोग में नहीं समाता, उसका फल क्या होगा? इस संसार में रुलना पड़ेगा, कोई दूसरा तो साथी न बन जायगा। हमारी सारी जिम्मेदारी हम ही पर है, दूसरे सब किनारा कर जायेंगे। अभी भी सब किनारा करे हुए हैं। कल्पना में मान रहे हैं कि इनका हमपर अनुराग है, हमको सुखी रखने वाले ये ही हैं, पर वस्तुतः कोई किसी का प्रेमी नहीं है, कोई किसी का साथी नहीं है। सभी अपने अपने खुदगर्ज हैं, ये हैं खुदगर्ज तो रहे आयें, इसका कोई बुरा न मानना चाहिये। कारण यह है कि वस्तुस्वरूप ही यही है। अपने ही प्रदेश में अपने आपका परिणमन किये जाय बस यही है पदार्थों का स्वरूप। जो लोग खुदगर्जी की बात जानकर, बताकर जीवों से नफरत करते हैं क्या रखा है दुनिया में, सब खुदगर्ज है। अरे दूसरे को खुदगर्ज बताने वाले मित्र! जरा तुम भी बताओ कि तुम भी खुदगर्ज हो कि नहीं? खुदगर्जी तो वस्तु की मुद्रा है। कोई पदार्थ किसी दूसरे के लिए कुछ नहीं कर सकता। सब कोई अपने लिए ही अपना काम करते हैं। तो तुम्हारे सुखरूप अथवा दुःखरूप जितने भी परिणमन हैं वे सब मोह रागद्वेष भाव के कारण हैं। कोई अन्य सुख अथवा दुःख देने वाला नहीं है।

पुण्य पाप के अनुसार बाह्ययोग—श्रीपाल को धवल सेठ ने समुद्र में पटक दिया। चाहा तो यही कि यहीं मर जाय, पर हुआ क्या कि वह तिर करके निकल गया और आधा राज्य पाया और राजपुत्री का विवाह हुआ। अनेक लोग सुख देने के लिए भरसक यत्न करते हैं, पर होता क्या है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

कि वही दुःखरूप बन जाता है। अकृतपुण्य की कथा में बताया कि वह कोई राजपुत्र था, जबसे पैदा हुआ तबसे राज्य में हानि, प्रजा में क्लेश छा गया। सब लोगों ने मिलकर कहा—महाराज ! इस पुत्र की वजह से प्रजा में बड़ी विपत्ति छायी हुई है, यह अकृतपुण्य है। इसने पुण्य नहीं किया, अब आप समझिये क्या किया जाय ? तो अकृतपुण्य और उसकी मां, ये उस राज्य को छोड़कर चले गए। बहुतसा द्रव्य, बहुतसा अनाज उनके साथ धर दिया गया, मगर सब खालिस हो गया। कहां गया ? कैसे गिर गया ? वे मोहरें आग बन गयीं। अब भी कहते हैं लोग गड़ा हुआ धन कोयला बन जाता है अगर उदय न हो। पुण्य पाप के उदयानुसार कुछ भी समागम होने में कुछ आश्चर्य नहीं तो यहां जैसा पुण्य पाप जीवों का है उसके अनुसार उनको समागम मिलते हैं, वहां कल्पना करके यह जीव स्वयं सुखी दुःखी होता है, अन्य कोई सुख दुःख का देने वाला नहीं है।

भावों की सम्भाल का उत्साहन—भैया ! यदि सुखी रहना चाहते हो तो अन्तः शिव संकल्प करके रहो, मैं आत्मा अकेला हूं, मुझपर अकेले ही जिम्मेदारी है। अकेले ही मरण होगा, अकेला ही जन्म लेना होगा। तब अकेले इस आत्मतत्त्व की रक्षा के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप प्रवृत्ति करनी चाहिये। उससे ही आत्मा को सुख शान्ति प्राप्त हो सकती है। सुख और दुःख का देने वाला जगत में और कोई दूसरा नहीं है। मोह राग द्वेष ये ही दुःख की खान हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र आनन्द की खान हैं। मोह राग द्वेष में भी भाव ही बनाना होता है तो सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र में भी भाव ही बनाना होता है। अब वह मर्जी है कि किस प्रकार के भाव को करना चाहिये। भाव भाव की सर्वत्र बात है। खोटा भाव कर लिया तो संसार में रुलेंगे, अच्छा भाव कर लिया तो संसार से तिरने का उपाय बना लेंगे। भाव के अलावा न हम आप कुछ करते थे, न कर रहे हैं और न आगे कर सकते हैं। तो भावों की सम्हाल करने में ही अपनी बुद्धिमानी है।

Version 1

सुख दुःख होने में निमित्त व आश्रय की अनिवार्यता होनेपर भी निमित्त व आश्रय में सुख दुःख का अकर्तृत्व—सुख-दुःख का देने वाला न तो कोई आश्रयभूत पदार्थ है अर्थात् जिन पदार्थों का हम ख्याल कर करके सुख-दुःख की अनुभूति किया करते हैं, ख्याल में आये हुये पदार्थ हमारे सुख-दुःख के कारण नहीं हैं, और जिन कर्मों के उदय का निमित्त पाकर इस जीव में ख्याल करने की सुख-दुःख की अनुभूति करने की, सुख दुःख रूप परिणमन की प्रवृत्ति होती है, न वे कर्म मुझे सुख दुःख देते हैं। केवल हमारा जो राग द्वेष मोह भाव है, वह ही सुख और दुःख का देने वाला है। यद्यपि मोह राग द्वेष भाव आश्रयभूत पदार्थों का आश्रय करके ही उत्पन्न होते हैं, निराश्रय सुख दुःख नहीं बनते। किसी से कहा जाय कि तुम किसी पदार्थ का ख्याल मत करो और रागद्वेष का परिणमन बना लो, तो ऐसा आप कर सकेंगे क्या? लोक की किसी भी बाह्य वस्तु का ख्याल तो करें नहीं, ध्यान में कुछ भी बाह्य वस्तु लायें नहीं और सुख दुःख जैसा परिणमन बनालें, रागद्वेष का परिणमन बनालें यह सम्भव नहीं है। इसी प्रकार निमित्तभूत कर्म न हों उदय में और रागद्वेषरूप अथवा सुखदुःखरूप परिणमन बनालें कोई, यह भी नहीं हो सकता। तथापि अर्थात् निमित्त व आश्रय अनिवार्य होनेपर भी सुख दुःख की उत्पत्ति करने वाले ये दोनों ही नहीं हैं।

दुःख के अपाय का रूपाय—इस प्रसंग में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह तो बड़ी विकट स्थिति हो गयी। निमित्त होने से और आश्रय तो लोक में सर्वत्र पड़े ही हुए हैं, सो जिस चाहे का ख्याल कर लेने से सुख दुःख की उत्पत्ति होती ही है जब, तब उसको दूर करने का उपाय क्या है? उस उपाय का वर्णन करते हैं कि निजको निज परको पर जान, फिर दुःख का नहिं लेश निदान। हे आत्मम्! तू निज स्वरूप को तो निज रूप से जान ले, यह मैं ही मेरा हूं और अपने चतुष्टय से भिन्न अन्य द्रव्यों को पर रूप से जानले कि ये सब पर हैं फिर देख तेरे दुःख का लेशमात्र भी कुछ

http://www.jainkosh.org

कारण न रहेगा। निज क्या है ? यह मैं आत्मा आकाशवत् अमूर्त हूं। जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श आकाश में नहीं हैं इसी प्रकार ये इस आत्मतत्त्व में भी नहीं हैं। आकाशवत् निर्लेप है। चूँकि वह आत्मा भी आकाश की तरह अमूर्त है इस कारण इसमें किसी भी चीज का लेप नहीं होता। आत्मा में जो बन्धन हैं वह सम्बंध या लेप के कारण नहीं, किन्तु निमित्त नैमित्तिक भाव के कारण है और निमित्त नैमित्तिक भाव का बन्धन संयोग के बन्धन से भी विकट होता है। तो आत्मा अमूर्त है अतएव इसमें कोई लेप नहीं है, अमूर्त निर्लेप होनेपर भी यह सद्भूत वस्तु है, प्रतिभासमात्र वस्तु है। इस निजको निज मान लेने और परको पर जान लेने से क्लेश दूर हो जाते हैं, क्योंकि अब दुःख का कारण नहीं रहा।

अमूर्त आत्मतत्त्व के सवेदन को सुगमता—अमूर्त होकर भी आत्मा का सत्त्व हुआ करता है, इस विषय में शंका होना साधारण जनों के लिये प्राकृतिक बात है, क्योंकि लोगों कि दृष्टि में रूप, रस, गंध, स्पर्शवान रूपी पदार्थों में ही सत्त्व का व्यवहार चलता हैं। आकाश को सद्भूत मानने वाले लोग अति विरले हैं। धर्म, अधर्म, काल की सत्ता माननेवाले तो उनसे भी अधिक बिरले हैं। इसका कारण यह है कि अमूर्त पदार्थ में सत्त्व समझने के लिए कोई सुगम गुंजाइस नहीं है लेकिन समस्त अमूर्त पदार्थों में स्पष्टतया यदि कोई अमूर्त पदार्थ समझा जा सकता है तो वह है आत्मा। और, इसका कारण यह है कि यह स्वयं है। स्वयंपर बात बीत रही है। स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा यह आत्मा भली प्रकार से समझा जा सकता है। तो अमूर्त प्रतिभास-मात्र स्वसम्वेदन द्वारा प्रत्यक्ष यह मैं आत्मा अपने स्वरूप से कैसा हूं सो यथार्थतः अनुभव प्रतीत कर सकता है अनुभव से ही आत्मा की पूर्ण यथार्थता का परिचय होता है। वचनों के द्वारा भी परिचय उस ही को होता है जो कि अनुभूति के निकट हैं अथवा अनुभव कर चुके हों। ऐसा मैं अपने द्रव्य से अर्थात् अपने गुण पर्याय से सत् हूं। मैं अपने ही प्रदेश में सत् हूं, अपने ही

Version 1

परिणमन में हूं, अपने ही गुणों के स्वभाव में हूं। इस प्रकार जगत के समस्त पदार्थों से निराला अमूर्त प्रतिभासमात्र निज तत्त्व को निजरूप से जानें और इसके अतिरिक्त अन्य जितने भी पदार्थ हैं उनको पररूप से जाने।

निजको निज परको पर जान लेने में सर्वार्थसिद्धि—निज को निज परको पर जानने वाले पुरुष ने सारे विश्व को जान लिया। भगवान केवली सर्वज्ञ समस्त विश्व को स्पष्ट और विवरण सहित जानते हैं, त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित जानते हैं। भगवान सारे विश्व को जान लेते हैं तो उसके एवज में उन्हें मिलता क्या है? देखो—हमने भी निजको निज परको पर जानकर सारे विश्व को जान लिया तो हमें भी परसे क्या मिल गया? निज में यह मैं स्वयं आया और पर में ये सारे पदार्थ आये। भगवान सर्वज्ञ देव को किसी परवस्तु से कोई प्रयोजन नहीं, सो उन्होंने जानकर भी उसका लाभ क्या उठाया? मुझे भी विश्व के समस्त परवस्तुओं से क्या प्रयोजन? यदि मैं उन परवस्तुओं को बड़े विश्लेषण के साथ नहीं जान रहा तो कुछ हर्ज ही नहीं। परको पर जान लेने से निज दृढ़ता से जानने में आया, सो हमारा प्रयोजन इतने में ही सिद्ध हो रहा है। परके बारे में हमने खूब समझ लिया। जो मेरे स्वरूप चतुष्टय में वर्तमान अस्तित्व से भिन्न हैं वे सब पर हैं, समस्त परपदार्थों को हमने परख लिया है। यह एक सर्वज्ञ देव के जानने की पद्धति का अनुसरण करने वाला ज्ञान बन रहा है। भगवान आत्मा को आत्मारूप से, परको पररूप से जानते हैं। यहां भगवान की भक्ति के प्रसाद से, उनकी उपासना और उनकी परम्परा से प्राप्त किए गए सदुपदेश के प्रसाद से हमने भी आत्मा को आत्मारूप से और परको पररूप से जान लिया है। अब इस ही भेदविज्ञान के आधारपर अभेद स्वतंत्र आत्मतत्त्व का अनुभव होगा, और इस ही सम्यक् भेदविज्ञान के आधारपर हुए अभेद ज्ञानस्वभाव की स्थिरता से स्वयं ही रागद्वेष मूलतः नष्ट होंगे और प्रभु की, सर्वज्ञ की तरह इस ज्ञान में भी वह पूर्ण विकास होगा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परोक्ष और प्रत्यक्ष विश्वज्ञता का विश्लेषण—भैया ! निजको निज परको पर जान लेने में और सम्पूर्ण रूप से निजको निज परको पर जानने में एक अन्तर यह जरुर आता है, जैसे कि अभी कहा था कि भगवान ने सारे विश्व को जान लिया तो उन्होंने क्या लाभ उठाया ? लो हमने भी निजको निज परको पर जानकर सारे विश्व को जान लिया, लेकिन है अन्तर, अन्तर यह है कि भगवान का केवल ज्ञान जो पूर्ण विकसित है, समस्त विश्व जहां प्रतिभात होता है तो सर्व कुछ प्रतिभात होने के कारण सन्देह का या अपनी पदवी से हट जाने का कोई अवकाश नहीं है, किन्तु यहां पर हम प्रभु के साथ समता का गौरव नहीं कर सकते, क्योंकि यहां एकदेश आनन्द है, विशुद्धि और च्युति का संदेह है। जहां आत्मा को आत्मा रूप से जाननेभर का प्रयोजन है, इसकी सीमा में यह बात कही गई थी कि प्रभु ने स्पष्ट सबको जान लिया तो हमने भी अस्पष्ट रूप से सारे विश्व को जान लिया। हमारा प्रयोजन न था कि हम अन्य परपदार्थों के बारे में अलग-अलग विशेषताओं को जानें। प्रयोजनमात्र इतना था कि समस्त परपदार्थों से विविक्त निज स्वरूप में अपना उपयोग बने।

निज की अन्तः निरख—यह मैं निज कैसा हूं ? अहंप्रत्ययवेद्य। जिसमें मैं मैं की धुन रहती है, शब्द न बोलकर भी अहं प्रत्यय वाच्य तत्त्व का लगाव रहता है, बस वही तो मैं हूं। वह मैं अकेला हूं। इस अमूर्त प्रतिभासमात्र आत्म-पदार्थ में किसी भी अन्य का लगाव नहीं है। जो परिजनों में बसकर कल्पनायें बनती हैं—ये मेरे घरके लोग हैं, इनसे मेरा बड़ा महत्त्व है, लोक में सब लोग मुझे बड़ा सम्पन्न समझते हैं। ये सब जो कल्पनायें हैं वे कल्पनायें इस तरह की हैं कि जैसे लोक में कहते कि इसमें जड़ तो कुछ नहीं है और बतंगड़ बना दिया है। ठीक इसी तरह की बात और इससे भी बढ़कर बेहूदी, बेतुकी बात इस सम्बन्ध में है कि मेरा मेरे से बाहर कुछ भी नहीं है, किन्तु कल्पना में सारे विश्व को अपना मान रहे हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

धर्मपालन की निर्णयता—धर्मपालन करना है शान्ति पाने के लिए, संकटों से छूटने के लिए। मगर धर्मपालन नाम है किसका? इसका तो पहिले निर्णय कर लीजिये तब तो धर्मपालन की बात करो। मुझे धर्म करना है, क्या करना है? हाथ-पैर चलाना, तीर्थपर जाना, दीप आदिक उठाकर यहां वहां धरना गान तान आदि करना, पूजा पाठ भजन आदि करना, रस छोड़ना, उपवास करना, एकाशन करना ये सब काम हैं करनेके। अरे भैया! इन कामों में ही जिनकी दृष्टि है उन्हें धर्म दीखा नहीं और न धर्म का पालन बना। ये सब चीजें सहयोगी हैं। धर्मदृष्टि के ये सब सहकारी कारण हैं। जिसके सहकारी कारण हैं उसका पता ही न हो तो सहकारी कैसे? सर्वप्रथम मूलतः आवश्यक है यह कि हम जानें कि धर्म क्या है, तब ही तो हम धर्म का पालन कर सकते हैं। क्या है धर्म? धर्म वह है जो संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में पहुंचाये। अब छांटकर लो—ऐसा कौनसा परिणमन है जो संसार के दुःखों से छुटाकर उत्तम सुख में पहुंचा दे। छान-बीन करने के बाद विदित होगा कि आत्मा का जो ज्ञानस्वरूप है, स्वभाव है, प्रतिभासमात्र तत्त्व स्वयं अपने आपमें अपने सत्त्व से जो अपना स्वरूप है, जो कि स्थिर है, गम्भीर है, धीर है, उदार है, साधारण है, निर्विकल्प है, निर्भार है, ऐसा प्रतिभासमात्र निजस्वरूप की दृष्टि होना, उसमें उपयोग जमना, यह तो धर्मपालन है, ऐसा कोई करे तो नियम से उसके संकट दूर होंगे। इसको जानने के बाद फिर इसकी जानकारी कुछ स्थिर रहे हममें हमारी प्रगति हो। हम बाह्य पदार्थों से हटकर विशेषतया अपने आपके स्वरूप के निकट बसते रहा करें यह उपाय और बनना चाहिए।

शरीर से स्नेह किये जाने की उद्दण्डताभरी वात—भैया! रहेगा कुछ नहीं यहां अपना। जो समागम मिले हैं ये समागम नियम से बिछुड़ेंगे और जितने काल के लिए ये समागम हैं उतने काल के लिए भी उनसे क्षोभ ही मिलता है, शान्ति नहीं मिलती, इस कारण किसी परपदार्थ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

का ध्यान करना, किसी पर को अपने चित्त में जमाना योग्य बात नहीं। समस्त पर मेरे लिए असार हैं। सबसे विकट स्नेह तो चेतन पदार्थों में हुआ करता है। घर में बसने वाले स्त्री, पुत्रादिक परिजनों से बड़ा विकट स्नेह हुआ करता है। पर यह तो निर्णय करलो कि जिनसे आप स्नेह करते हैं उनका स्वरूप क्या है ? किससे आप स्नेह करते हैं ? प्रश्न में दो चीजें हैं— शरीर और जीव। शरीर से आप स्नेह करते हैं क्या ? दृष्टि तो ऐसी ही है कि शरीर को ही सब कुछ समझकर, उससे ही अपना परिचय बनाकर शरीर पुद्गल को निरखकर ही तुरन्त विश्वास होता है कि ये ही लोग तो हैं मेरे। सारा परिचय सम्बंधी चित्रण उपयोग में आ जाता है। लेकिन आप शरीर से भी प्रीति नहीं करते। शरीर से प्रीति करें तो पहिली बात तो यह है कि जब जीव निकल जाता है, शरीर रह गया मृतक, उस शरीर से तो ये कुटुम्बीजन स्नेह करते नहीं। दूसरी बात, यहीं जिन्दा ही शरीर में नाक से नाक की धारा निकल बैठे, मुंह से लार टपक जाय, किसी जगह फोड़ा-फुन्सी हो जाय, उसमें से पीप बह जाय, ऐसी स्थिति हो तो इस शरीर में भी स्नेह तो नहीं पहुंचता। कौन शरीर से स्नेह करता ?

जीव से भी स्नेह किये जाने की अशक्यता—अब जीव की बात देखो, क्या कोई जीव से स्नेह करता है ? यह तो बिल्कुल अयुक्त बात है कि कोई जीव से स्नेह करता है। जीव है एक चैतन्यस्वरूप। अथवा जिस स्वरूप-दृष्टि में जगत के सर्व जीव एक समान हैं, सर्व जीवों में साधारणतया ज्ञान को उत्पन्न करने वाला जो ज्ञायकस्वरूप है उस स्वरूप से यदि प्रेम होता तो इसमें ही वह प्रेम करे, यह विभाग नहीं बन सकता। इसलिए इसके मायने यह है कि कोई जीव से भी प्रेम नहीं करता, और इस सूक्ष्म दृष्टि की भी बात जाने दो। जो मोटे रूप में समझ रखा है कि यह एक जीव है, जो आया है, पैदा हुआ है, और यह कभी जायगा ऐसे मोटे रूप से परखे हुए जीव स्वरूप में भी कोई स्नेह नहीं करता। फिर बतलावो, न तो हम लोगों का

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जीव से प्यार हो रहा न शरीर से प्यार हो रहा और प्यार से अपनी बरबादी की जा रही है तो यह कितना विकट इन्द्रजाल है।

इन्द्रजाल की विडम्बना और उसकी समाप्ति का यत्न—इन्द्रजाल उसे कहते हैं कि जिसकी जड़, जिसका स्वरूप, जिसकी विधि कुछ भी समझ में न आये और जाल सो बना हुआ है। इन्द्र मायने है आत्मा के, उसका जाल। संसार अवस्था में आत्मा का जो जाल बन रहा है उसका नाम है इन्द्रजाल। यह सारा इन्द्रजाल, ये सारी बेतुकी अटपट कहानियां, ये सब विडम्बनायें निजको निज परको पर जानने से समाप्त होती हैं। तो इसमें कोई असत्यता नहीं कि मोह राग द्वेष ही दुःख की खान हैं। लेकिन ये मोह राग द्वेष कादाचित्क है, औपाधिक हैं, ये मिटते नहीं, कुछ हैरान नहीं होते। जब ये रागद्वेष मेरे ही परिणमन बन रहे हैं और मेरे ही दुःख के कारण हो रहे हैं, तो इनका विनाश मैं कैसे कर सकूं। विनाश इनका हो सकता है, इस कारण हो सकता है कि ये सहेतुक हैं। और, जो पदार्थ सहेतुक होते हैं उन-उन पदार्थों का नाश हो जाया करता है और, जो पदार्थ कादाचित्क होते हैं, हुए अब न रहे, हुए फिर न रहे, उन पदार्थों का, पर्यायों का नाश हो जाया करता है। हमारे सुख-दुःख के कारण ये विकल्प ही है, ऐसा पहिले निर्णय तो पक्का करिये। दृढ़ निर्णय होनेपर फिर परख कर लीजिए कि ये नष्ट हो सकते हैं अथवा नहीं।

दुःखधाम मोह राग द्वेष की बेसिरपैर बातें—मोह उत्पन्न होता है किसी परपदार्थ में अपना लगाव मानने से। राग उत्पन्न होता है किसी परपदार्थ से मुझे सुख होता है ऐसी कल्पना रखने से। द्वेष उत्पन्न होता है मेरे सुख के कारणभूत इन विषयों में ये बाधक हैं ऐसा ज्ञान होने से, पर ये तीनों ही आश्रय असत्य हैं। किसी परपदार्थ में मेरा लगाव नहीं है मेरा स्वरूप मेरे प्रदेश में ही निहित है, मेरी करतूत मेरे प्रदेश में ही निहित है, मेरा सर्वस्व मुझ में ही है। मैं यदि हजार मील तक की बातें जान रहा हूं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अथवा आगम युक्ति से स्वर्ग और मोक्ष की भी कुछ बातें जान रहा हूं तो यह मैं अपने ही प्रदेशों में कुछ ज्ञानरूप से परिणमता हुआ इस विश्व को जान रहा हूं, मेरे प्रदेशों से बाहर मेरा कुछ न कभी हुआ, न कभी हो सकेगा। फिर मेरा किसी भी बाह्य पदार्थ से कुछ लगाव नहीं है। जहां इस तरह निजको निज परको पर जाना, वहां मोह समाप्त है। जैसे निजका परिणमन निजसे बाहर नहीं पहुंचता, इसी प्रकार परका परिणमन उस परके प्रदेश से बाहर नहीं जाता। तब फिर मुझे किसी परपदार्थ से सुख कैसे हो सकता है? जहां निजको निज परको पर जाना, वहां रागभाव फिर नहीं ठहरता। जहां रागभाव न ठहरे तो द्वेष तो रागमूलक है सो वह द्वेष भी नहीं ठहरता। तो जब निजको निज परको पर जान लिया तो सुख-दुःख की खान रहती नहीं तो इस जीव को फिर सुख-दुःख का कोई कारण नहीं है।

हमारी हैरानी—आप लोगों को जो कुछ भी क्लेश है, जो भी हैरानी है वह मात्र विकल्प की है। इस समय केवल अपने आपके हित के नाते से बात जानना है और सुनना है। इस अनादि अनन्त काल में थोड़े से वर्षों के लिए मनुष्यभव में आये हुए इस अपने आत्मा की बात कही जा रही है। इसको जो समागम प्राप्त है आज इस भव से पहिले इस रूप में तो न था। यह १०-२० वर्ष के बाद इस रूप में तो न रहेगा यही भूत भविष्य के समागम की कहानी है। इसको कष्ट क्या है? यह विकल्प है कष्ट कि भव-भव में समागम पाया पर आज वे साथ नहीं हैं, आगे जो कुछ समागम होंगे वे आज साथ नहीं हैं और वर्तमान में जो कुछ भी समागम साथ हैं वे भी साथ न रहेंगे। इस जीव की हालत उस हिरण के बच्चे की तरह है। जैसे कोई हिरण का बच्चा जंगल में अपनी मां से बिछुड़ गया। सैकड़ों शिकारियों ने उसको मारने के लिए धनुष बाण लेकर पीछा किया। वह आगे भगा तो नदी का तीव्र प्रवाह था, अगल-बगल भगना चाहा तो देखा कि भयंकर अग्नि जल रही है। अब वह घबड़ाता है—हाह! मैं क्या करुं, कहां जाऊं?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कैसे अपने प्राण बचाऊं ? यों जैसे वह हिरण का बच्चा दु:खी होता है इसी तरह से ये संसारी प्राणी चार संज्ञायें—आहार, निद्रा, भय, मंथुन आदि के वशीभूत होकर निरन्तर दु:खी रहा करते हैं।

हैरानी मिटा लेने का अवसर और सुगम स्वाधीन उपाय— आज हम आपको उत्कृष्ट मनुष्यभव मिला है, हम आपका कर्तव्य है कि यहां के संकटों से मुक्ति प्राप्त करने का उपाय बनालें। मनुष्यभव पाकर हम आपकी कितनी बड़ी जिम्मेदारी है। जैसे यहां कमेटी का कोई सेक्रेटरी अथवा प्रेसीडेन्ट बन जाय तो वह समझता है कि हम पर अब बहुत बड़ी जिम्मेदारी है इसी तरह नाना दुर्गतियोंमय संसार में भटकते-भटकते आज मनुष्यभव हम आपको मिला है तो समझिये कि हम आपपर कितनी बड़ी जिम्मेदारी है। इस दुर्गम संसार बन से पार होने का मार्ग बना लिया तब तो ठीक है अन्यथा 'पशु-पक्षी, कीट-पतिंगा आदि बन गये तो फिर दु:ख ही उठाना पड़ेगा। सुख दु:ख का देने वाला यहां कोई दूसरा नहीं है, हम ही अपने में कषायें करते और हम ही अपने में आशा बनाते, विकल्प करते, और दु:खी होते। हमारा कुछ भी काम हमारे प्रदेशों से बाहर नहीं होता, लेकिन अन्त: ही अन्त: विकल्प बना बनाकर दु:खी होते हैं और जन्म मरण की संतति बढ़ाते हैं। उन दु:खों के मेटने का कुछ उपाय भी है क्या ? हां, यह उपाय है कि जरा अपने आपमें गुप्त हो जायें। अपने आपके हित के नाते से अपने आपको सामने रखकर अपने आपका निर्णय करना है। यही सब दु:खों से छूटने का उपाय है। मुझे बहुतसा धन मिले, बहुत से भोग साधन मिलें तब मेरे दु:ख मिटें, यह सोचना गलत है। दु:खों से छूटने का उपाय तो मात्र एक है—'निजको निज परको पर जान।'

निजके यथार्थ परिचय का प्रभाव— अपने आपको जान लिया कि मैं इतना ही हूं। मेरा तो मुझसे ही वास्ता है। मैं अपने भाव बनाता हूं और अपने भविष्य का सब कुछ निर्णय बना लेता हूं। मेरी किसी भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

परिणति में किसी दूसरे का हाथ नहीं है। मैं तो भावों को रचता जाता हूं और अपना भविष्य बनाता हूं। मेरे भाव अ दि उत्तम होंगे तो मैं अपने में ही अपने को निरखकर समझ कर सकूंगा और मेरा भविष्य ठीक बनेगा, यह काम यदि न कर सके तो ये धन वैभव आदिक पाकर ही क्या किया जायगा? आखिर ये सब पुद्गल ही तो हैं। इनसे हम आपका पूरा नहीं पड़ सकता। हम अपने आपको समझें कि हम क्या हैं? जिस क्षण यह समझ आ जायगी उसी क्षण समस्त जीवों के प्रति ये तो सब गैर हैं और ये घर में बसने वाले दो चार जीव मेरे हैं, इस प्रकार के भाव न बनेंगे। ऐसे ज्ञानी गृहस्थ की अद्भुत वृत्ति होती है। निजको निज और परको पर जानने से फिर दुःखका लेश भी निदान नहीं रहता।

निजको निज परको पर जान लेने से दुःख के निदान के न रहने का विश्लेषण—भैया! अपने आपकी परख होने के बाद भी कुछ समय तक दुःख आ सकते हैं। क्योंकि पहिले जो कर्म कमाये हैं वे कर्म उदय में आते हैं। उनके उदयकाल में दुःख आता है। भले ही ज्ञानबल के कारण उसको अत्यन्त मंद अनुभाग में बिता डाले, पर दुःख आता है। इस कारण निजको निज परको पर जान लेने मात्र से दुःख का लेश निदान नहीं रहता। यह न कहकर यह कहा गया है कि निजको निज परको पर जानने से दुःख का निदान नहीं रहता। दुःख का कारण है खुद का अज्ञान, खुद के व्यर्थ के विकल्प। तो सर्व परसे विविक्त अपने आपको भली प्रकार से समझना और अपने आपमें ही स्थिर होना, यह काम हम आपको करने को पड़ा है। यही सारभूत काम है। यहां के व्यर्थ के कामों में ही लगकर सारा समय खोया, अपने आपके आत्माराम के काम को जो कि सारभूत काम है, उसको नहीं किया। कितना काल पहिले व्यतीत हो चुका जिसका आदि नहीं, कितना काल आगे व्यतीत होगा जिसका कि अन्त नहीं, इतना काल भटकने को पड़ा है या रहने को पड़ा है। इस अनन्तकाल के सामने आज का पाया हुआ यह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जीवन कितने समय का जीवन है। इसमें जो कुछ भी किया जा रहा है— परिग्रह का संचय किया जा रहा है, अन्य-अन्य वृत्तियां की जा रही हैं, दूसरों का दिल सताया जा रहा है, बहुत-बहुत अन्याय अनीति के काम किये जा रहे हैं क्या ये ही सारभूत काम हैं ? जहां अनादि अनन्तकाल की सुध हुई वहां ही इन रागद्वेषमोह, विषय कषाय, भोग आदिक से निवृत्ति होने लगती है।

लोक और काल की विशालता के प्रत्यय का महत्त्व— संस्थानविचय धर्मध्यान, जिसे मुख्यता से बताया है कि छठवें गुणस्थान से शुरु होता है, वैसे तो चतुर्थ गुणस्थान से है, पर मुख्यता से छठे गुणस्थान में है। विरक्त ज्ञानी साधु के उपयोग में लोक, काल सम्बन्धित आकार परिमाण आदिक बहुत-बहुत दृष्टि में रहा करते हैं। बहुत से अपराधों से बचने में ये लोक, काल आदि के स्मरण बहुत सहायक हैं। धर्मध्यान के अर्थ जब स्वाध्याय करते हैं और लोकका जब प्रकारण चल उठता है, लोक कितना बड़ा है। सूत्र जी के तृतीय अध्याय में यह सब वर्णन पड़ा हुआ है। कितना विशाल लोक है और लोक में क्या-क्या रचनायें हैं यह सब स्वाध्याय में आता है तो लोग उस वर्णन के पढ़ने सुनने समझने आदि में अनुत्साही हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि कोई कथानक हो तो जरा सुगम बने, समझ में आये, रुचि हो। पर यह नहीं सोचते कि इस लोक की रचना परिज्ञान होने से बीच-बीच में वैराग्य विकसित होता रहता है। ओह ! इतना बड़ा लोक है। इस लोक के समक्ष तो आज की यह परिचित दुनिया तो समुद्र के आगे एक बिन्दु बराबर भी नहीं है। और, फिर जहां हम रह रहे हैं, जिन परिजनों के बीच रह रहे हैं, जितने से क्षेत्र में हमारा परिचय बना हुआ है, जितने से क्षेत्र में हम अपनी कीर्ति फैलाने की बात सोच रहे हैं वह क्षेत्र तो कुछ गिनती ही नहीं रखता। इस थोड़े से क्षेत्र में किसको क्या दिखाना, किसको क्या अपना समझना, इस प्रकार की बात लोक के विस्तार का ज्ञान करते

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

समय बीच-बीच में आती रहती है। लोक विशालता के परिचय में जैसे वैराग्य विकसित होता है, यों ही जब कालकी विशालता का वर्णन आता है कि—काल अनन्त है, उसका अभी अन्त ही नहीं आता तो उस काल के विस्तार के वर्णन में वैराग्य आता रहता है—ओह ! इतने बड़े काल के आगे तो जीवन के ये १६-२०-५०-१०० वर्ष तो कुछ गिनती भी नहीं रखते। अगर इस थोड़े से जीवनकाल में अपने आपकी सुध करने का प्रोग्राम नहीं बनाते, बाह्य पदार्थों के संचय में, उनको ही रातदिन उपयोग में बसाये रहने में अपना जीवन गुजारते हैं तो समझो कि हम कितनी बड़ी भूल कर रहे हैं। इस भूल के फल में हम आपको कितने दु:ख भोगने होंगे इसका अंदाज कर लीजिए।

सकलक्लेशमुक्ति का अति सुगम एक मौलिक उपाय—समस्त दु:खों से छूटने का उपाय केवल एक है और वह अति सुगम है। जैसे किसी मजबूत किले के भीतर बैठा हुआ राजा अपने को सुरक्षित अनुभव करता है इसी प्रकार थोड़े समय को इस देह को किला मानलो। इस देह किले के भीतर आत्माराम है सो अन्दर ही देखो, कोई उसमें प्रवेश नहीं कर सकता, और फिर सच्चे किले की बात देखो—अपने आपका जो स्वरूप किला है वह कितना सुरक्षित है। उसे कोई छेद नहीं सकता, उसमें किसी का प्रवेश नहीं हो सकता। उसमें बाहर से कुछ भी हैरानी नहीं हो रही है। रहे निमित्त और आश्रय, सो ये अपनी ही भूल से इस मुझ आत्मा के साथ लगे हुए हैं। मैं ही अपने आपको सम्हालूं तो आश्रय तो तुरन्त मिट जायेंगे व निमित्त भी काल पाकर तुरन्त मिट जायेंगे। तो एक अपने आपकी सम्हाल से दु:ख के सारे कारण समाप्त हो जाते हैं। समस्त दु:खों से छूटने का उपाय एकमात्र यही है कि अमूर्त प्रतिभासमात्र निज अन्तस्तत्त्व में समा जाना। अन्य कोई उपाय नहीं है जो हमारे समस्त दु:ख मेट सके।

दु:खों की प्राप्ति और मुक्ति के उपाय का एक-एक ही ढंग—

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सब दु:खों की सबके दु:खों की एक ही बात है, सब दु:खों का सबके दु:खों का एक ही स्वरूप है, सबको एक ही किस्म से क्लेश है। क्लेश परदृष्टि से है, चाहे उन क्लेशों के वर्तमान रूपों में आश्रयभेद से भेद कर दिया जाय— देखो, राजा को इस नगर की चिन्ता के कारण क्लेश है। देखो, इस सेठ को अपने कारोबार की किसी बाधा से क्लेश है। देखो, इन गरीब लोगों को सुरक्षित स्थान न होने से बरसात के दिनों में क्लेश है, यों चाहे आश्रयभेद कर लीजिए, पर मूल में सबके क्लेशों का मूलकारण एक ही मिलेगा। वह कारण है परदृष्टि। क्लेश का ढंग सब जीवों का एक है। जैसे सब मनुष्यों का जन्म एक तरह से होता है, चाहे किसी भी बिरादरी का मनुष्य हो पर जन्म एक ही तरह से होता है, अथवा मरण भी सबका एक ही तरह से होता है, कहीं ऐसा नहीं है कि किसी ऊंच बिरादरी का कोई हो तो उसका मरण अन्य तरह से हो और किसी नीच बिरादरी का हो तो उसका मरण अन्य किसी तरह से हो, दस प्राणों के वियोग से मरण होता है। इसी प्रकार समस्त दु:खों से छूटने का उपाय एक ही है। अपने को आत्मा के नाते से देखें, जाति, कुल, मजहब आदि के नाते से न देखें। इस मुझ अमूर्त जानन देखनहार आत्मा को अपना हित चाहिए, संसार के संकटों से छुटकारा चाहिए, वह मुझे प्राप्त हो, एक यही अभिलाषा है अन्य कुछ न चाहिए, तो इस धुन में इसका उपाय भी ढूँढ़ लिया जायगा। यदि किसी रागद्वेष का लगाव करके हम संकटों से छूटने का उपाय ढूँढ़ना चाहें तो वह कठिन हो जायगा।

संकटों से छूटने के लिये मानकषाय के परिहार की आवश्यकता—संकटमुक्ति के पथ में आने के लिये मानकषाय को छोड़ने की अतीव आवश्यकता है। मानका बहुत बड़ा विस्तार है। इसका दूसरा नाम है अहंकार, मैं, मैं, मैं। मैं जो नहीं है उसमें "मैं" माने, इस अहंकार का नाम मिथ्यात्व है। समाज में, देश में, सभा-सोसाइटियों आदि में जो मैं मैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

मचा देता है उसका वह मानकषाय है इस मानकषाय के वश होकर किस किस प्रकार इस शारीरिक सकल सूरत को यह मैं हूं ऐसा मानकर लोगों ने मेरा अपमान कर दिया, लोग मुझे कुछ समझते नहीं, ऐसी कल्पनायें मचाकर यह उस मान में डूबा हुआ रहता है अरे लोग जानें या न जानें, मुझे क्या ? एक तो लोग मुझे जान ही न सकेंगे और अगर वे जान जायें मुझे, तो समझो कि वे स्वयं ज्ञानी हो गए। वे यदि जान गए मुझे तो फिर अमुकचन्द, अमुकलाल, अमुकप्रसाद आदि नामों से व्यवहार न करेंगे, वे तो स्वयं ज्ञान ज्योति में मग्न हो जायेंगे। उनके लिए फिर यह मैं क्या रहा ? उनके उपयोग में तो वह चैतन्यस्वरूप रहा।

प्रभु भक्ति में ध्येय विषय—हम प्रभु की भक्ति करते हैं, और उसमें हम जब तक यह भेद रख रहे हैं कि यह अमुक तीर्थंकर हैं, अमुक के पुत्र हैं, अमुक कुल के हैं, इतनी बड़ी अवगाहना के हैं, उस काल में हुए ये आदि तो हम प्रभु के विशुद्ध स्वरूप की आराधना नहीं कर पाते। वहां भी जब हम मात्र इस दृष्टि से देखें कि हम एक चित्पिण्ड की भक्ति कर रहे हैं, पूजा कर रहे हैं तो एक जिस चित्पिण्डमात्र प्रभु की पूजा कर रहे हैं, प्रभु स्वरूप में, विशुद्ध चित्स्वरूप में जहां कोई बन्धन नहीं रहता, जहां पूर्ण विकास है, ज्ञान ज्योति जहां पूर्ण प्रकट है उसकी हम पूजा करें, इस तरह की दृष्टि में समय ज्यादा नहीं लग पाता, इसलिए भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों की भिन्न-भिन्न रूप से हम पूजा का उपक्रम करते हैं, पर पूजा करने का कोई उद्देश्य विस्मृत न हो जाये कि हम पूजने किसे आये हैं। हम पूजने आये हैं उस विशुद्ध चैतन्य स्वरूप को, जहां रागद्वेष, मोह, सुख, दुःख, कर्म, शरीर ये सब कुछ नहीं रहे, मात्र केवल ज्योति ही है, ज्ञानस्वरूप है, उसको अनुभव ने आये हैं हम यहां प्रभु पूजा के प्रसंग में।

प्रभु भक्ति का उचित प्रयोजन—अब और सोचिये हम प्रभु को क्यों पूजने आये ? समाजपर एहसान रखने के लिये या भगवानपर एहसान

http://sahjanandvarnishastra.org/

करने के लिए या लोगों में बड़प्पन लूटने के लिए या भगवान के प्रेम के वश होकर ? ये कुछ भी उत्तर सही नहीं है, सन्मार्ग के ये उत्तर नहीं हैं। न भगवान के स्नेह से पूजा करने आये हैं, न समाज को रिझाने के लिए, न किसीपर एहसान डालने के लिए पूजा में आये हैं, किन्तु इस आत्मा के विभावोंरूप संसार में जो नाना क्लेश हैं उन क्लेशों से छुटकारा पाने का उपाय खोजते खोजते आज हम चैतन्यस्वरूप के निकट आये हैं। इस चैतन्य-स्वरूप के निकट आने से यह परिचय मिला कि यह चैतन्यस्वरूप परमात्म-तत्त्व अति पावन है, सर्वक्लेशजालों से मुक्त है। ओह ! इस परमात्मतत्त्व को ही पहिले बहुत-बहुत खोजा, धर्म के नामपर हर जगह तीर्थों में गया, बहुत-बहुत गुरुजनों से समागम किया, विद्याध्ययन किया, सब कुछ उपक्रम करने के बाद यह समझ में आया कि यह है परमात्मतत्त्व, यह है केवल आत्म-तत्त्व, और यही स्वरूप मुझ में है। ऐसे उस निज को जानने से फिर बतलावो वहां दुःख का क्या कारण रहता है ?

परमात्मतत्त्व के सुचिर ध्यान का कर्तव्य—हम लोगों को परमात्मतत्त्व की बात अधिक देर तक विचारने के लिए, सुनने के लिए मौके नहीं मिल पाते हैं। ऐसे मौके मिलायें उसी को ही तो सत्संग कहते हैं। ऐसे मौके जीवन में बहुत-बहुत मिलने चाहियें कि हम अविकारी इस निज सहज परमात्मतत्त्व को दृष्टि में लाया करें। किसी की मुद्रा को देखकर, किसी के चारित्र को निरखकर, किसी के उपदेश को सुनकर चर्चायें करके हम अधिकतर इस आत्मतत्त्व के निकट रहा करें। व्यापार आदिक के कार्यों में जितना समय लगाते हैं उससे कम समय निज सहज परमात्मतत्त्व की दृष्टि में न लगे, क्योंकि व्यापार कितने दिनों का ? मृत्यु होगी सब धरा रह जायगा, साथ कुछ न जायगा। साथ जाने वाला तो है हमारी आत्मविषयक सद्बुद्धि से उपार्जित किया हुआ ज्ञान का संस्कार। अर्थात् जो मैं हूं सो ही साथ जायगा, अन्य कुछ नहीं। जरा इससे ही अन्दाज लगालो कि जो मेरे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

साथ मरनेपर जायगा वह तो है मेरा और जो मरनेपर मेरे साथ न जायगा वह मेरा अब भी नहीं है। यह बात कुछ तथ्य की जच रही है क्या ? नहीं जंच रही तो अभी धर्ममार्ग में, धर्मपालन के लिए चलने में हमें यह बात पहिले करना है और जंच रही हो तो सोचना चाहिए कि जंच जाने के बाद भी हम उस कार्य में एकदम नहीं आ पाते तो यह हमारे लिए खेद की बात है, लाज की बात है। हम अपना जीवन इस योग्य बनायें। यहां कोई हमारी मदद न कर देगा। लोग कुछ भी कहें, मजाक करें, विवाद करें, नाम धरें अथवा मुझसे विमुख हों, मुझसे स्नेह मत रखें, सब कोई जहां चाहें चले जायें, चाहे सब कुछ छूट जाय पर एक अपने आपके सहज परमात्मतत्त्व की लगन यह मेरे से न छूटे तो यहीं मेरे लिए सब कुछ है। एक अपने आपको सम्हाल लेने से हमारा सब कुछ सम्हल जाता है और एक अपने आपको बिगाड़ लेने से हमारा सब बिगड़ जाता है।

अन्तः शान्ति का अन्तः उपाय कर लेने की स्वयंपर ही जिम्मेदारी—भैया ! कोई दूसरा हम आपको दुःख-सुख देने वाला नहीं है, केवल ये हमारे विकल्प ही हमको कष्ट देते हैं। अधिक देर इन इन्द्रियों को संयत करके मनको संयुक्त करके किसी से हमको कुछ प्रयोजन नहीं, किसी से कुछ इच्छा न करें, कोई कर क्या देगा मेरा ? कोई मेरा प्रभु नहीं। ये जगत के जीव मेरे कोई साथी नहीं है। मेरी सब जिम्मेदारी मुझपर ही है। हिम्मत बनायें, संकोच न करें। बड़े मोह और स्नेह के वायदे भी किये हों, बाहर ही बाहर अपने उपयोग को दौड़ाया हो तो भी अब अपने आपको सम्हालकर इस निर्लेप ज्ञानमात्र सहज परमात्मतत्त्व का अनुभव तो कर लीजिये। सब कुछ किया अब तक बाहर में, फिर भी बाहर में कुछ नहीं किया, बाहर में नाम ले लेकर सब कुछ विकल्प कर डाला, किन्तु एक निज को जानने का काम न कर सके। जिसका फल है कि ज्ञानमय पदार्थ होकर भी शरीर में फंसा और बंधा है। लोग तो अपने चेहरे को दर्पण में देख

http://sahjanandvarnishastra.org/

देखकर खुश होते हैं और उसकी बड़ी सम्हाल करते हैं, पर इस सारे शरीर में जितने किस्म के मल भरे हैं उनमें अधिक किस्म के मल तो इस चेहरे में भरे हैं। हाथ-पैर की जगह तो खून मांस मज्जा आदि ही हैं पर इस चेहरे में इनके अतिरिक्त नासिका से नाक निकले, कर्ण से कनेऊ निकले, मुख से लार, कफ, खकार आदिक निकले। इतने महामलिन चेहरे को दर्पण में देखकर, उसे सजाकर लोग बड़े खुश होते हैं। अरे इस शरीर की सजावट में प्रीति न रखो, एक अपने आत्माराम से प्रीति रखो। अपने को निर्लेप, ज्ञानस्वरूप, अत्यन्त पवित्र निहारो। मैं तो वह हूं, ये सब विडम्बनायें मैं नहीं हूं: जितना ज्ञान और वैराग्य बढ़ेगा उतना ही दु:ख दूर होंगे।

पर्यायबुद्धि का अन्याय—अज्ञान, पराकर्षण, पर में प्रीति, इनसे तो जीव को क्लेश ही प्राप्त होते रहेंगे। आप भी ऐसा न करें, हम भी ऐसा न करें। लोग मुझे अधिक चाहें, बहुत स्नेह रखें, ऐसा विचार न रखें। ये तो सब प्रासंगिक बातें हैं, पर हां स्नेह के बजाय द्वेष का कड़ा बोलबाला है इसलिए स्नेह की प्रशंसा की जाती है। द्वेष की ज्वाला मे तो बचे। वस्तुत: राग और द्वेष दोनों ही इस जीव को क्लेश उत्पन्न करने वाले हैं। मेरे क्लेशों का उत्पन्न करने वाला मेरा ही अज्ञान है, मेरा विकल्प है, मेरा राग है। कैसा घनिष्ट राग मान रखा, ये ही तो हैं मेरे सब कुछ, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, ये सब कैसे मिटेंगे। क्या ये और के हो जायेंगे ? स्त्री तो मेरी ही है दूसरे की कैसे ? ये पुत्र तो मेरे ही हैं, दूसरे के कैसे ? अरे स्वरूपदृष्टि से देख—तेरा कुछ भी नहीं है। तेरा तो मात्र तेरा स्वरूप है। इसके आगे जो तेरे विकल्प बनते हैं वे सब तेरी मान कषाय में निहित होते जाते हैं। यश की चाह, लोक में बड़प्पन की चाह। और, तो जाने दो—धर्म करते-करते भी तो, आत्महित के प्रयत्न में लगे-लगे भी तो अभिमान उखड़ पड़ता है। मान न मान मैं तेरा महिमान। अभिमानियों की यह दशा है—मान न मान मैं तेरा महिमान। जनसाधारण की दृष्टि में नहीं है कि यह मैं बड़ा हूं। ये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

लोग मुझे इतने ऊंचे आदर से नहीं निरखते हैं, लोग निरखें चाहें न निरखें, हम तो इनमें बड़े ही हैं। अपने आपमें ऐसा बड़प्पन अनुभव करना और अपने आपके परमात्मस्वरूप को भूल जाना, यह अपने आपपर कितना बड़ा भारी अन्याय है।

देव शास्त्र गुरु की आन्तरिक भक्ति से अन्तः उपलब्ध आन्तरिक ज्ञान से दुःखों का अभाव—परमात्मस्वरूप का स्मरण करते रहना चाहिये पूजा में, ध्यान में, पर्वों में, उपदेशों में। सच पूछो तो ग्रन्थों के रूप में ये सब हमारे गुरुराज हैं। इनकी वाणी है ग्रन्थों में। हम उनका अध्ययन करें। हम आपने बुद्धि पाया, मन पाया, ज्ञान पाया, सब प्रकार से समर्थ हैं फिर भी इतना प्रमादी बन रहे हैं कि हमारे हितू जो आचार्यजन हैं, गुरुजन हैं उनका स्वरूप भी नहीं जानना चाहते। मनमें यह इच्छा ही नहीं रखते कि हम उन गुरुवों का स्वरूप तो देखें कि वे गुरु क्या थे? इन गुरुवों का स्वरूप अगर जानना है—क्या थे ये कुन्दकुन्द, क्या थे ये समन्तभद्र? तो उन गुरुजनों की वाणी का अध्ययन करें तो उनके स्वरूप का पता पड़ेगा, उनके प्रति भक्ति जगेगी और उन गुरुराजों के दर्शन होंगे, और अपने जीवन को सफल कर लिया जायगा। तो अब इस मनुष्यभव को हमें यों न खोना चाहिए। ज्ञान और वैराग्य में बढ़ें, राग और मोह से हटें और अधिक से अधिक उन गुरुराजों के जो अनुभव हैं, उनका अध्ययन कर वहां चित्त लगायें तो इस विधि से हम आपका भला होगा, आनन्द जगेगा, निजको निज जान जावेंगे और फिर दुःख का कोई कारण नहीं रहे तब यह मैं अपने आपको किस रूप में अनुभव करूंगा? यह मैं सर्व द्रव्यों से निराला स्वतंत्र हूं, अर्थात् चैतन्यस्वभाव से कभी चलित न होने वाला सर्व विकारों से रहित स्वरूप, जिसमें किसी भी प्रकार की गंदगी नहीं, ऐसा जानन देखनहार यह मैं आत्माराम हूं। ऐसी प्रतीति में ही हम अपना भला कर सकते हैं, और-और तरह के विकल्पों में तो हम अपने जीवन को व्यर्थ ही खो रहे हैं।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूँ निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम ।।४।।

निज धाम में पहुंचने की भावना—जिस आत्मतत्त्व के जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम, विष्णु, बुद्ध, हरि आदिक नाम हैं, रागको छोड़कर मैं उस निजधाम में पहुंचूँ तो फिर आकुलता का क्या काम ? यहां भावना में मुख्य बल दिया है निज चैतन्यस्वरूप धाम में पहुंचने का। जहां पहुंचने पर फिर आकुलता नहीं रहती। उपयोग की गति दो ओर होती है—निज की ओर और परकी ओर। निज और परके अतिरिक्त कुछ और तीसरी चीज रही ही नहीं। जब उपयोग परकी ओर अभिमुख रहता है तो आकुलित रहता है और जहां अपनी ओर अभिमुख हो गया वहां आकुलतायें नहीं रहतीं। लोक में धर्म का अनुराग रखने वाले अनेक लोग हैं, भगवान का सहारा लेते हैं, तो भगवान के सहारे में भी मूल में सहारा वास्तविक क्या किया जा रहा है ? जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम, विष्णु, बुद्ध, हरि आदिक नामों से प्रभु का आश्रय लोग लेते तो असल में आश्रय है क्या ? इसमें अपने आपका आश्रय कर रहे हैं। जैसे कि जिस आत्मतत्त्व का नाम जिन है उस आत्मतत्त्व में पहुंचने की भावना की है।

आत्मा की जिन स्वरूपता—जिन क्या है ? जो रागद्वेष को जीते उसको ही तो जिन कहते हैं। जिन्होंने रागद्वेष को जीत लिया उन प्रभु ने भी किसके आलम्बन से रागद्वेष को जीता ? उनका आलम्बन रहा निज का ही चैतन्यस्वरूप शुद्ध अंतस्तत्त्व। जब हम आप पूजा करें, भक्ति करें तो साथ ही यह भी निरखते जायें कि ये प्रभु क्या कार्य करके बड़े बने हुए हैं ? जो कार्य करके वे बड़े बने वह ही कार्य हम आपको उपादेय है। प्रभु जिन हुए, उन्होंने रागद्वेष मोहादिक को जीतने का उपाय किया। सर्व परपदार्थों से भिन्न अपना जो चैतन्य स्वरूप है, निज आत्मतत्त्व है उसकी ओर दृष्टि की। रागद्वेष होते हैं इन इन्द्रियों के द्वारा कुछ ज्ञान करते हुए में।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और, इन्द्रिय के विषयों के उपयोग से रागद्वेष होते हैं। वे विषय इन द्रव्येन्द्रियों के साधन से उपयुक्त होते हैं। द्रव्येन्द्रियां हैं अचेतन। उनसे भिन्न है यह चेतन आत्मा। उसका ध्यान करने से द्रव्येन्द्रिय का जो अन्तः लगाव है है वह समाप्त होता है। और, भीतर जो कल्पनायें बनती हैं वे कल्पनायें हैं भावेन्द्रिय, क्षायोपशमिक, मलिन। उनसे भिन्न है आत्मा का शुद्ध चैतन्य-स्वरूप। उस चैतन्यस्वरूप की दृष्टि से इन भावेन्द्रियों पर विजय होती है। और, ये सामने हुए विषयभूत पदार्थ ये कहलाते हैं संग। तो इनसे भिन्न निःसंग मेरा जो आत्मस्वरूप है उसकी दृष्टि होने से इस संग का भी आश्रय छूटता है। ऐसी स्थिति में आत्मा रागादिक भावों पर विजय करता है। इस उपाय से ये आत्मा जिनेन्द्र हुए। तो जिस आत्मा का जिन नाम है उस आत्मा का स्वरूप ही इस उपासक की दृष्टि में आ रहा है भगवान की भक्ति के समय भी।

मूल शिवस्वरूप की उपासना—कोई लोग प्रभु को शब्द से भी कहते हैं। शिव का अर्थ है कल्याण जो कल्याण स्वरूप है, सुखमय है उसे कहते हैं शिव। लोक प्रसिद्धि है कि शिव कोई महादेव हुए हैं। ठीक है, हुये हैं। उन्होंने भी इस आत्मतत्त्व का आश्रय लेकर अपने आपमें विकास किया है, निर्ग्रन्थ साधु थे, सभी लोग उन्हें दिगम्बर कहते हैं। विकास होते-होते ११ अंग ६ पूर्व तकका उनका अध्ययन अधिकार पूर्वक हुआ था। विद्यानुवाद नामक दशांग पूर्व में वे शिथिल हुए और उससे आगे वे न चल सके, चमत्कार उनका था ही, लोक में बड़ी प्रसिद्धि हुई और वे बड़ी प्रसिद्धि के साथ लोक में उपास्य हुए। अच्छा, शिव हुआ कौन? यह आत्मा ही। कैसे हुआ? अपने आत्मा के अन्तः स्वरूप की उपासना के बल से ही हुआ है। ऐसे जिस आत्मा का नाम शिव है, ऐसे आत्मतत्त्व में राग त्यागकर यदि पहुंचूं तो फिर आकुलता का कोई काम नहीं रहता।

ईश्वर ब्रह्मा राम के मूलस्वरूप की उपासना—प्रभु को कहते

Version 1

हैं ईश्वर, ईश्वर कहते हैं उसे जो ऐश्वर्यवान हो, स्वयं हो, स्वयं में हो, स्वयं के लिए हो। जिसे अपने ऐश्वर्य के भोगने में किसी परकी आधीनता न हो उसे ईश्वर कहते हैं। लोक में बड़ा वही माना जाता जो अपने सुख साधनों के भोगने में पराधीन न हो, वस्तुत: देखो तो पूर्ण स्वाधीन सुख के भोगने वाले वीतराग सर्वज्ञदेव हैं। उनका परिपूर्ण विकास हुआ है। वहां किया क्या जा रहा है? केवल आत्मीय आनन्द का स्वाधीन अनुभवन। उस आनन्द के भोगने में उन्हें किसी पर की अपेक्षा नहीं रही। ये सब परिणमन अपने आपमें ही किए जाते हैं अत: आत्मा ही स्वयं ईश्वर है, अर्थात् यह आत्मा अपने विभावों से स्वयं ही स्वयं की परिणति करता है और स्वय ही स्वयं की परिणति को भोगता है। ब्रह्मा भी इस आत्मा का ही नाम है। जो सृष्टि करे, जो बढ़े उसका नाम ब्रह्मा है। सृष्टि करना, उत्पत्ति करना इसको वृद्धि के रूप से कहा गया है उत्पत्ति, वृद्धि, बढ़ना, विकास, विलास ये सब अनर्थान्तर हैं। जो बड़े बढ़ाये उसको कहते हैं ब्रह्मा। तो यह आत्मा स्वयं अपने ही गुणों से बढ़ता है और अपनी ही सृष्टि करता है तो इस ही का नाम निरुक्ति से ब्रह्मा है। राम, जहां योगीजन रमण करें उसे राम कहते हैं। योगीजन कहां रमण करते हैं? इस ही आत्मस्वरूप में। जो केवल प्रतिभासमात्र अमूर्त है उस आत्मा का ही नाम राम है।

विष्णु बुद्ध हरि के मूलस्वरूपकी उपासना—विष्णु, जो व्यापक हो जो व्यापे उसे कहते हैं विष्णु। ज्ञान के समान व्यापने वाली और कोई चीज नहीं है। जितना बड़ा प्रसार ज्ञान का है उतना बड़ा प्रसार और किसी चीज का नहीं है। ज्ञान का प्रसार लोक में भी है और अलोक में भी है। इस आत्मा को ज्ञानरूप से ही निरखा गया है अत: इस आत्मा का ही नाम विष्णु है। विष्णु को रक्षक भी कहते हैं। जो रक्षा करे सो विष्णु। तो यों भी ध्यान में लाइये कि हमारी रक्षा करने वाला हमारी आत्मा के सिवाय अन्य कौन हो सकता है? इसलिए यह आत्मतत्त्व ही विष्णु है। बुद्ध, यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्मा ही बुद्ध है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप ज्ञानमात्र है। और ज्ञान की दृष्टि से ही जब हम इसको निरखने चलते हैं तो हमें आत्मा का सत्य परिचय होता है। अतएव यह आत्मा ही बुद्ध है। हरि, यही आत्मा हरि है। जो पापों को हरे सो हरि। पापों का हरने वाला हमारा विशुद्ध परिणाम ही तो है। हम जब विशुद्धि में बढ़ते हैं तो ये सब कर्म कलंक स्वयं ही विशीर्ण हो जाते हैं।

निजधाम में पहुंचने का यत्न—जिसके जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्मा, राम, विष्णु, बुद्ध, हरि आदि सब नाम हैं उस निजधाम में यह मैं पहुंचूं। उसका उपाय है राग त्यागि। राग त्यागने से ही अन्तस्तत्त्व में सहज पहुंच हो जाती है। यह आत्मा स्वयं ही तो ज्ञान स्वरूप है और जानने वाला भी ज्ञान है। तो ज्ञानमय स्वयं को ज्ञान ही जानने चले तो उसे कठिनाई क्या है ? पर इस ज्ञान के चलने में बाधक है राग। किसी परवस्तु के प्रति जब तक यह प्रतीति रहे कि मेरा बड़प्पन, मेरी इज्जत, मेरा सुख, मेरा जीवन अमुक पर आश्रित है, धन वैभव आदि पर आश्रित है। इस तरह की जब तक प्रतीति रहती है तब तक यह आत्मा अपने आपके स्वरूप में नहीं पहुंचता। इसलिए उपाय ही यह है कि राग त्यागें। राग को छोड़कर अपने आपमें पहुंच बन सकती है। अब इस तरह के प्रयत्न में जिसकी यह स्थिति बनी कि जिसका उपयोग अर्थात् जानन ज्ञानवृत्ति जानने के स्वरूप में रम गयी, ज्ञायक-स्वभाव अंतस्तत्त्व में ज्ञान एकरस हो गया ऐसी स्थिति में फिर बतलावो आकुलता का उदय किस ओर से हो सकता है ? जिस अंतस्तत्त्व में पहुंचनेपर रागद्वेष का उदय नहीं है वह मैं आत्माराम कैसा हूं ? स्वतंत्र अपने आपके आधीन। निश्चल—जो अपना चैतन्यस्वरूप है उससे चलित न होने वाला, निष्काम, समस्त विकारों से रहित ऐसा जानन-देखनहार स्वरूप वाला यह मैं आत्मतत्त्व हूं।

आत्मा के निर्णयपर भविष्य की निर्भरता—मैं क्या हूं, इसके

Version 1

निर्णयपर मेरा सारा भविष्य निर्भर है। यों समझिये कि जैसे नाव के चलाने वाले मल्लाह तो कई होते हैं, पर किस ओर नाव को ले जाना है यह कर्ण-धार के हाथ की बात है। नाव में पीछे एक सूप की तरह कर्ण लगा होता है, वह बड़े मोटे डंडे के नीचे लगा रहता है। कर्णधार उसे जिस रुख से मोड़ दे उस रुख से नाव चलने लगती है। तो जैसे नाव की प्रगति, किस तरह चले, कहां जाय, यह सब कर्णधारपर निर्भर है इसी प्रकार मैं क्या हूं इस निर्णयपर मेरा भविष्य निर्भर है। मेरा संसार में जन्म-मरण करते रहना व मुक्त होना इन दोनों ही बातों के भविष्य का आधार है अपने आपके स्वरूप का निर्णय। जहां यह प्रतीति है कि मैं सर्व से निराला चैतन्यस्वरूप मात्र हूं, मेरा इस जगत में कहीं कुछ नहीं है, मैं अकिञ्चन हूं, यहां मुक्ति का मार्ग मिलता है। और, जहां परदृष्टि है, स्वदृष्टि से विमुखता है वहां संसारभ्रमण करते रहने का मार्ग मिलता है। तो ये दोनों ही बातें हमारे ही भावों के आधीन हैं।

आत्मभाव से आत्मस्वरूप की उपलब्धव्यता—जैसे किसी पुरुष के आगे दो चीजें धर दी जायें, एक ओर हीरा रत्न और दूसरी ओर खली, और उससे कहा जाय कि भाई इनमें से तुम्हें जो चीज इष्ट हो वह ले लो। और, यदि वह खली का ही लेना पसंद करे तो उसे तो लोक में बेवकूफ कहा जायगा। इसी तरह से हमारे आगे दो बातें हैं एक तो मुक्ति प्राप्त करना और दूसरी—जन्मसंतति बढ़ाना। भावों से ही हम मुक्ति पाते हैं और भावों से ही हम अपनी जन्मसंतति बढ़ाते हैं। जन्मसंतति करते रहने के भाव बनाने से तो इस संसार में रुलते ही रहना पड़ेगा और मुक्ति प्राप्त करने के भाव बनाने से स्वाधीन अनुपम आनन्द की प्राप्ति होगी। तो देखिये—जब भावों से ही हमें जन्मसंतति मिल सकती है और भावों से ही हमको मुक्ति भी मिल सकती है तो हमें कहां लगना चाहिये, किस ओर प्रतीति करना चाहिये, कैसा प्रयत्न करना चाहिये, यह जरुर विवेक से सोच लीजिए कोई हमको बन्धन में डाले हुए नहीं है। हम सबसे निराले और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अपने स्वरूप में, अपने प्रदेशों में रह रहे हैं, जो कुछ यहां दिखता है वह कुछ भी मेरा नहीं है, मेरे से बाहर यहां मेरा कुछ भी नहीं है। तो मैं अपने में ही रह रहा हूं। कोई भी परवस्तु मुझे पकड़े हुए नहीं है। भले ही वे परवस्तुवें निमित्त हैं, आश्रयभूत हैं, पर वे सब भी निमित्त और आश्रयभूत मेरे ही अपराध से बन रहे हैं। मैं अपने असली स्वरूप को जानकर सर्व परकी उपेक्षा करके अपने आपमें ही बसूं तो ये सब झंझट, ये सब संततियां हमारी दूर हो सकती हैं।

संकटमुक्ति के लिये ही प्रभुभक्ति की उपेवता—हम संकटों से छुटकारा पाने के लिए ही सब प्रयास कर रहे हैं। भगवद्भक्ति भी हमारे जीवन के उत्थान में एक बहुत महत्त्व रखती है जब हम प्रभु के स्वच्छ, वीत-राग, निर्दोष, परिपूर्ण गुणयुक्त स्वरूप को निरखते हैं। और, जब साकार दृष्टि से सोचते हैं कि प्रभु आकाश में समवशरण में विराजते हैं, चारों ओर से देव देवियां बहुत गान तान संगीत के साथ, बड़े उमंग के साथ सब लोग आ रहे हैं प्रभुचरणों में भक्ति करने के लिए, यह सब जो आकर्षण है वह किस बात का है? वह सब आकर्षण है वीतरागता का। वीतराग प्रभु के निकट पहुंचने के लिए किसी के पास खबर नहीं भेजी आ जाती। अरे वह खबर तो बिजली की तरह स्वयं फैलती है तथा अचानक ही अनेक शंख-नाद वगैरह हो जाया करते हैं, देवों के आसन स्वयं कम्पित हो जाते हैं जिससे भी सब प्रभुपद का ध्यान कर लेते हैं और सबके सब वहां जाकर प्रभु-भक्ति में रत रहा करते हैं। यह सब प्रताप है वीतरागता का। हम यदि शान्त रह सकते हैं तो वीतराग होकर ही शान्त रह सकते हैं। रागरहित होकर हम शान्ति के सपने देखें तो यह बिल्कुल विरुद्ध बात होगी। तो राग-भाव को छोड़कर ऐसे ज्ञानमय अपने आत्मस्वरूप में पहुंचें, जिस पहुंच में छल कपट अथवा अन्य किसी प्रकार के अन्तर बाह्य यत्न की जरुरत नहीं। मन, वचन, काय के योग की जहां वृत्ति नहीं, केवल ज्ञान द्वारा ज्ञान में ज्ञान को

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अवस्थित करने की वृत्ति है, ऐसे अपने आपके इस पवित्र कार्य में, अपने आपके स्वरूप में समाये जाने में उद्यम करें तो यही एकमात्र सारभूत काम है। निरपेक्ष होकर, मंदकषाय होकर, आत्महित की अभिलाषा से आप अपनी प्रत्येक वृत्तियों में एक यह प्रश्न उठाते जायें कि क्या इस समस्त अनन्तकाल में यही काम सारभूत है ? ऐसा सोचनेपर जो सारभूत काम नहीं है उससे हट जायेंगे और जो सारभूत काम है उसपर दृष्टि पहुंचते ही आप जम जायेंगे। यही सारभूत काम है। क्या मिला तब सारभूत ? "राग त्यागि पहुंचूं निजधाम।" इस एक काम के सिवाय अन्य कोई यत्न, अन्य कोई कार्य सारभूत नहीं है।

विकल्प तोड़कर निजधाम में ही पहुँचने की सारभूतता—आप अनुभव करके देख लीजिए। बाह्य में कर करके कोई काम पूरा नहीं होता। जब ऐसी दृष्टि बने कि अब तो मेरे करने को कुछ काम रहा नहीं, तब काम पूर्ण हो सकेगा। काम कर करके काम कभी पूरा हो नहीं सकता। और, काम हमें करने को लोक में कुछ नहीं रहा, यह बुद्धि तभी बन सकती है जब स्वरूप चतुष्टय का भेद व ज्ञानज्योति हमारे उपयोग में स्पष्ट रहे। क्या कुछ हो सकता है मेरे द्वारा किसी परपदार्थ में ? मैं अपने प्रदेश में हूं। अपने ही प्रदेशों में अपने ही गुणों से हूं और यहां ही मेरी रचना होती रहती है, इसके आगे मेरा सम्बंध नहीं है। मेरे द्वारा बाह्य में कुछ किया जा सकता नहीं। केवल भाव कर सकता हूं। जहां ऐसा बोध हो वहां ही यह बात चित्त में आ सकती है कि इस जगत में मेरे किये जाने योग्य कुछ भी कार्य नहीं। सो इस कार्य से विकल्प छूटे, इसका राग छूटे और मैं अपने आपके स्वरूप में पहुंचूं तो फिर वहां आकुलता का कोई काम नहीं है। ऐसे स्वतंत्र, निश्चल, निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतमराम को ध्यायें जिसके आलम्बन से सारे क्लेश संक्लेश दूर होंगे।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होना स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूं अभिराम ॥५॥

राग की निवृत्ति होनेपर ही शान्ति की उपलब्धि—शान्ति का आधार वैराग्य है, वैराग्य का आधार ज्ञान है। क्लेश का आधार राग है। जिन्हें क्लेश न चाहिये, उन्हें यह बात नहीं भूलना है कि क्लेश मिटेंगे तो राग के छोड़ने से ही मिट सकेंगे। राग रहते हुए किसी को सुख-शान्ति नहीं मिली। राजुलदेवी जब तक चित्त में राग रखे रही, जंगल में गई, नेमिकुंवर से भी प्रार्थना की। यद्यपि था उसका विशुद्ध राग, पर राग था। राग के रहते संते प्रमाद न था, आवेश था, कभी राग का; कभी वैराग्य का, पर जब एकदम निर्णय हो गया कि राग छोड़कर आत्मस्वरूप में ही रत रहने से गुजारा चल सकेगा अन्यथा गुजारा नहीं। जब यह ज्ञान जगा, वैराग्य की भावना वास्तविक पूरित हुई उस समय उसका विशुद्ध प्रसाद था। सीता को भी जब तक राग था तब तक अनेक समस्याओं के बीच भी प्रसाद न मिला, प्रसन्नता न मिली। अग्नि परीक्षा के बाद एक निर्णय के साथ चल पड़ी। राग छोड़ा, विरक्त हुई, शान्ति प्राप्त की। सीता को भी जब तक शान्ति न मिली जब तक उनमें राग था।

वैराग्य होनेपर ही महापुरुष श्रीराम को शान्तिलाभ—श्री राम की भी कहानी सुनो—जब तक राग था, लक्ष्मण के गुजरने के बाद भी ६ महीने तक श्रीराम ने कितनी विडम्बनायें सहीं। जब किसीने समझाया—अरे तुम लक्ष्मण के इस मुर्दा शरीर को क्यों लिए फिरते हो? तो लौटकर जवाब देते—अरे हटो, तुम हमारे भाई को मुर्दा कह रहे हो। देवों ने कुछ उपाय भी किया कि लक्ष्मण के प्रति राम का अब राग तो मिटे। पहिले देवों ने पत्थरपर कमल उगाने का दृश्य रचा। रामने उसे देखकर कहा—यह क्या कर रहे हो? अजी पत्थर पर कमल उगा रहा हूं? अरे कहीं पत्थरपर कमल भी उगा करते हैं क्या? वाह-वाह क्यों नहीं उगा करते? जब तुम

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मुर्दा शरीर को भोजन खिलावोगे, और वह मुर्दा शरीर भी तुमसे बोल लेगा तो क्या हम पत्थर पर कमल न उगा सकेंगे ? इतनेपर भी श्रीराम की समझ में कुछ न आया। जब तक राग की व्याप्ति है तब तक कैसे समझ में आये ? फिर दूसरी बात क्या हुई कि देवों ने कोल्हू में रेत पेलने का दृश्य दिखाया। श्रीराम बोले—भाई यह क्या कर रहे हो ? ···रेत को पेलकर तेल निकाल रहे हैं। अरे कहीं रेत से तेल भी निकला करता है क्या ? हां-हां, क्यों नहीं, रेतसे तेल निकलेगा ? जब तुम्हारा भाईका मुर्दा शरीर भी बोल लेगा तो हम रेत से तेल क्यों न निकाल लेंगे ? इतनेपर भी श्रीराम की समझ में न आया। तीसरा दृश्य देवों ने क्या दिखाया कि एक गाड़ी में मरे हुए बैल जोते जा रहे थे। श्रीराम ने पूछा—भाई यह क्या कर रहे हो ? अरे इन मरे हुए बैलों को गाड़ी में जोत रहा हूं। अरे कहीं मुर्दा बैल भी गाड़ी में जुता करते हैं क्या ? तो तुम्हारे भाई का यह मृतक शरीर अब बोल भी उठेगा क्या ? लो श्रीराम की समझ में आ गया। अब उस यथार्थ समझ के साथ श्रीराम को जो प्रसन्नता हुई वैसी प्रसन्नता उन्होंने जीवन में कभी भी न पायी थी। और यह भी देखिये इस प्रसंग में वे देव जो समझाने आये थे कौन थे ? कृतान्तवक्र का जीव व जटायु पक्षी का जीव, जो राम से उपकृत भी हुए थे और राम के भक्त भी थे।

ज्ञानधारी वैराग्य की प्रबलता—ज्ञान और वैराग्य की सिद्धि होनेपर जो आत्मा में प्रसाद उत्पन्न होता है उसकी तुलना किसी भी अन्य सुख से नहीं की जा सकती। क्लेश दूर करना है तो उसका उपाय है कि राग को दूर किया जाय। राग दूर करना है तो उसका उपाय है सम्यग्ज्ञान उत्पन्न किया जाय। भावावेश में पाया हुआ वैराग्य एक आधारवान नहीं होता और ज्ञान के आधारपर आया हुआ वैराग्य प्रबल और पुष्ट होता है। तो कुछ जरा वैराग्य के आधारभूत ज्ञानकी ओर चलो—सम्यग्ज्ञान उसे कहते हैं कि जो पदार्थ जिस प्रकार से अवस्थित है उसको उस प्रकार से

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जानना। तो पदार्थ किस तरह से अवस्थित है ? पहिले तो यह जानो कि जो भी है वह अपने आपके पिण्ड से है, अपने आपके क्षेत्र से है, अपने आपके परिणमन से है और अपने आपके स्वभाव से है। इसे कहते हैं अन्तर्व्याप्य-व्यापकता। अपनी ही बात अपने में अपने को समायी हुई हो ऐसा सम्बंध है पदार्थ का अपने आपके स्वरूप के साथ। यदि ऐसा न होता तो जगत में आज कुछ भी न रहता। एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थरूप बन जाय तो फिर वह पदार्थ ही न रहेगा। ये सभी पदार्थ अवस्थित हैं यही प्रबल प्रमाण है कि प्रत्येक पदार्थ कभी अपने स्वरूप से चिगता नहीं है। सुधरने, बिगड़ने आदिक की जो भी क्रियायें होंगी वे सब उस ही पदार्थ में होंगी जिसका सुधार बिगाड़ हो रहा हो।

स्वयं का स्वयं में परिणमन मानने के तत्त्वज्ञान का प्रभाव— कमसे कम इतना तो स्पष्ट जान लेना चाहिये कि जगत के पदार्थों का परिण-मन उनका अपने आपमें होता है। निमित्त नैमित्तिकभाव है, पदार्थ जब विकृत होता है तब दूसरे पदार्थ के कारण विकृत होता है, लेकिन कोई भी दूसरा पदार्थ उस दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर पाता एक दृष्टान्त लीजिए— किसी बालक ने अंगुली मटकायी तो दूसरा बालक जो २० हाथ दूर खड़ा हुआ था वह चिढ़ जाता है और दु:खी होता है। तो क्या उस बालक ने दूसरे बालक को दु:खी कर दिया ? ···अरे वह बालक तो अपने में अपनी क्रियायें कर रहा था, पर वह दूसरा बालक अपने में अपनी कल्पनायें बना बनाकर स्वयं दु:खी हो गया। तो जैसे एक बालक ने उस दूसरे बालक में कुछ नहीं किया, इसी तरह एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं करता, कर ही नहीं सकता, फिर भी यह जीव दूसरे पदार्थ के प्रति कल्पनायें बनाकर स्वयं हैरान हो जाता है।

पर से जीवन कीर्ति आदि की आशा करने की गंदी भीख— हम आप लोग जिन लोगों के बीच में बस रहे हैं उन्हीं में ऐसी आशा लगाये

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हुए हैं कि इन्हीं के द्वारा ही हमारा जीवन चल रहा है। इनसे ही हमको सुख मिल रहा है। न जाने कितनी-कितनी बातें अपने मन में लगाये हुए हैं। अरे यहां के ये कोई भी समागम काम न देंगे, ये सब छूट जायेंगे। यहां से मरण करके जिस अगले भव में जावोगे, वहां जो कुछ मिलेगा वहां की विकार की बात तो उसने चलेगी। यदि यहां अपने स्वरूप को, अपने आचार-विचार को, अपने ज्ञान को सम्हाल लिया जाय तो आत्मा में वह बल होगा कि यहां से मरण कर जाने के बाद अगले भव में भी वे सब धार्मिक प्रसंग मिलेंगे और ज्ञानबल बराबर रहेगा जिससे वहां भी शान्त रह सकेंगे। यहां लोग कीर्ति की चाह करते हैं। अरे इस कीर्ति की चाह के समान गंदी भीख किसे कहा जाय? जब यहां कुछ रहेगा नहीं तो उस कीर्ति की चाह से लाभ क्या? न कीर्ति चाहने वाला यहां सदा रहेगा और न जिनमें कीर्ति की चाह की जा रही हैं वे सदा रहेंगे तो फिर कीर्ति की चाह करने से लाभ क्या? तब किसी भी बात की कीर्ति की आशा रखना, यह भी हमारी प्रगति में बहुत बाधक है। यदि हम अपना सत्यज्ञान पाये हैं और एकदम कल्याण करने के लिए दृढ़ संकल्प किए हैं तो बड़े साहस के साथ किसी भी क्षण सबको भूलकर एक केवल बड़ी धीरता से अपने आपके अन्दर ज्ञानज्योति से ज्ञान-ज्योति में समाये हुए थोड़ा एक निर्विकल्प पद्धति से कुछ विश्राम करें तो जो सारभूत तत्त्व है, आनन्द का धाम है अथवा कहो—प्रभु है उसके दर्शन होंगे। यह काम यदि न कर सके तो जीवन में सब कुछ करने के बाद भी कहा जायगा कि कुछ नहीं किया। इसका सम्बंध है अपने साथ, अपने भविष्य के साथ, संसार और मुक्ति जैसे अन्तर वाले निर्णय के साथ। ये मिले हुए समागम कुछ भी काम न आवेंगे, काम तो आयगा केवल अपने आपका ज्ञान और वैराग्य।

परसे पर के सम्पन्न होने की भ्रान्ति—अब वस्तुत्व दृष्टि से देखिये कि जगत का परिणमन स्वयमेव हो रहा है अर्थात् उसका उसके उपा-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दान से हो रहा है। लोगों को यह भ्रम है कि हम ही परिजनों को पालने पोषने वाले हैं। हमारे ही प्रयत्न से, हमारी चतुराई से परिजनों का पालन-पोषण हो रहा है। ऐसा सोचना तो उनका मिथ्या है। और, यह बात सम्भव है कि ऐसा सोचने वाला व्यक्ति जब तक घर में है तब तक तो कहो बड़ी गरीबी से गुजारा चले, और जब वह घरसे बाहर हो जाय तो कहो ऐसे-ऐसे योग जुड़ जायें कि विशेष आय होने लगे और वे परिजन पहिले से बहुत अधिक सम्पन्न हो जायें। अरे सबका भाग्य सबके साथ है। बल्कि कमाने वाले और बहुत-बहुत फिकर रखने वाले व्यक्ति से भाग्य तो उन घर वालों का बड़ा है जिनके पीछे रात-दिन इतनी चिंतायें की जा रही हैं।

परका परसे पालन न होने का एक दृष्टान्त—एक जोतिशी था, जो प्रतिदिन ज्योतिष की साधारणसी कुछ बातें बताकर आटा मांगकर लाता था और उससे उसके परिजनों का गुजारा चलता था। एक दिन वह जोतिशी किसी नगर में आटा मांगते हुए किसी संन्यासी को मिला। संन्यासी ने पूछा भाई क्या कर रहे हो? तो जोतिशी बोला महाराज! हम आटा मांग रहे हैं। आटा मांगकर जब घर ले जायेंगे तो हमारे परिजन खाने को पायेंगे। हमी तो परिजनों का पालन-पोषण करते हैं। तो संन्यासी ने कहा—जोतिशी जी तुम झूठ कहते हो, तुम नहीं अपने परिजनों को पालते-पोषते। तुम तो उनकी चिन्ता छोड़कर हमारे साथ चलो, वहां आनन्दसे रहोगे। वह जोतिशी भक्त था, सो संन्यासी के साथ चल पड़ा। जब जोतिशी प्रतिदिनके समय तक घर न पहुंचा तो घर वालों ने उसकी पूछताछ की। किसी मसखरे ने कह दिया कि अरे उसे तो आज एक शेर उठा ले गया। घर वाले रोने लगे, बड़े दु:खी हुए। पड़ोसियों में भी यह खबर फैल गई। सभी लोगों ने सोचा कि वही तो एक परिवार का चलाने वाला था, अब इन घरके बेचारे लोगों का गुजारा कैसे चलेगा। सभी ने विचार किया कि अपन लोग मिल-जुलकर इन्हें कुछ चीजें दे दें ताकि अपने पड़ोस में रहकर ये बेचारे दु:खी तो न रहें। सो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनाज की दूकान वालों ने एक-एक दो-दो बोरे अनाज दे दिया, कपड़े वालों ने कुछ थान कपड़े दे दिये, घी वालों ने एक-एक टीन घी दे दिया, इसी प्रकारसे अन्य भी चीजें लोगोंने दे दीं। वे घरके लोग तो अब इस तरहके दिन देखने लगे जैसे कि जीवनमें कभी भी न देखा था। उधर जोतिशीको संन्यासी के साथ रहते हुए जब करीब १५ दिन व्यतीत हो गए तो जोतिशी बोला—महाराज ! हमें आप घर जाने की आज्ञा दीजिए। जाकर देखें तो सही कि कौन मरा और कौन जिया। संन्यासी ने कहा—हां जावो तो सही, पर यों ही सीधा घर में न घुस जाना। छिपकर घर वालों को देख आना। सो जोतिशी वहां जाकर घर के पीछे से किसी तरह चढ़कर ऊपर की छतपर पहुंच गया। वहां से जाकर वह क्या देखता है कि घर के सभी लोग नये-नये वस्त्र पहिने हुए हैं। पूड़ियां कचौड़ियां घर में पक रही हैं। सभी खा पी रहे हैं, हंस खेल रहे हैं। जोशी को वह दृश्य देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और खुशी के मारे एकदम से वह अपने बच्चों से मिलने के लिए घर में कूद पड़ा। घर वालों ने तो यह समझ रखा था कि वह तो मर गया सो उसे देखकर सोचा कि अरे यह तो भूत आ गया। सो सभी ने ढेला, पत्थर, लूगर आदि से मार-मारकर उसे भगा दिया। वह किसी तरह प्राण बचाकर संन्यासी के पास पहुंचा। बोला—महाराज वहां तो सभी बड़े खुश हैं, पर घरके सभी लोगों ने हमें कंकड़, पत्थर, लूगर आदि से मार-मारकर भगाया। तो संन्यासी ने कहा—अरे जब वे स्वयं मजे में हैं तो तुम्हारी कौन पूछ करे। तुम तो व्यर्थ का अहंकार करते थे कि हमी इन परिजनों का पालन-पोषण करते हैं। तो इस कथानक से यह शिक्षा लेना है कि ऐसा अहंकार करना ठीक नहीं कि मैं ही इन लोगों का पालन-पोषण करता हूं, मैं ही इनको सुखी करता हूं। अरे सबके साथ सबका अपना-अपना भाग्य जुड़ा हुआ है और वे सभी अपने-अपने भाग्य के बलपर अपना-अपना काम कर रहे हैं।

पदार्थों का अपना स्वरूप—यहां सभी पदार्थों के सम्बन्ध में स्वरूप

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

देखो—प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें ही अदल-बदल कर रहे हैं क्योंकि पदार्थ का स्वरूप ही यह है—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। कोई अगर जानना चाहे कि जिनेन्द्रदेव के उपदेश का सार क्या है तो वह सब सार आपको दो सूत्रों में मिल जायगा। तत्त्वार्थसूत्र का प्रथम सूत्र है—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः और पंचम अध्याय में बीच का सूत्र है—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है। उत्पाद मायने बनना, व्यय मायने बिगड़ना और ध्रौव्य मायने बना रहना। प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव है कि बने, बिगड़े और बना रहे। वस्तु का स्वरूप है बनना, बिगड़ना और बना रहना। जो भी पदार्थ है उसकी प्रतिक्षण कुछ न कुछ अवस्थायें होती हैं। पूर्व अवस्थायें विलीन होती रहती हैं और नवीन अवस्थायें बनती रहती हैं और पदार्थ वही का वही पूरा बना रहता है। जैसे एक मनुष्य है तो पहिले उसका बचपन था, फिर वह जवान हुआ, फिर बूढ़ा हुआ, यों अवस्थायें बदलती रहती हैं, पर मनुष्यपना तो सब अवस्थाओं में वही का वही रहा। ऐसी ही बात सभी पदार्थों की है। इससे शिक्षा यही मिलती है कि जब सब पदार्थों का यही स्वरूप है कि वे अपने में उत्पन्न होते, विलीन होते हैं और बने रहते हैं। तब कहां गुंजाइस है कि कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ में कोई परिणति बना दे। इस दृष्टि से सारे विश्व को निरखिये कि प्रत्येक पदार्थ का परिणमन स्वयं में होता है, मैं किसी भी पदार्थमें कुछ नहीं करता। मैं अपने भाव बनाता रहता हूं, अच्छा, बुरा, सुखका, दुःखका, ज्ञानका, आनन्द का, आदिक भाव भर बनाता रहता हूं, इसके अतिरिक्त हम कर क्या रहे हैं? बड़ी गम्भीरता से, बड़ी जिम्मेदारी के साथ "अपने आपका इस अशरण संसार में अपने आप ही स्वामी है", ऐसा मानकर सोचते हैं तो जगत में किसी भी पदार्थ का हम क्या परिणाम कर रहे हैं? वह सुविदित हो जाता है। जब यह ज्ञान जगता है तो वहां वैराग्य प्रबल होता है। प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप उसका अपने आपमें है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

राष्ट्रीय ध्वज में पदार्थ के उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्व स्वरूप का संकेत—आज का सरकारी तिरंगा झंडा भी आपके उत्पाद्व्ययध्रौव्ययुक्त सत् की महिमा बना रहा है। समझने वाले समझ जायेंगे। उसमें रंग हैं तीन—हरा, सफेद और लाल। साहित्यकार लोग यह बताते हैं उत्पाद के वर्णन में कि उत्पाद का प्रतीक रंग हरा है। लोग जब पूछते हैं कि अजी क्या हाल है ? तो उत्तर में दूसरा व्यक्ति कहने लगता है कि भाई हम खूब हरे-भरे हैं। हमारे बाल बच्चे, नाती-पोते सब अच्छी तरह हैं। तो उत्पाद का वर्णन हरे से होता है। व्यय का वर्णन लाल से होता है। विनाश का वर्णन रुधिर रंग से चलता है, और ध्रौव्य का वर्णन शुक्ल से चलता है। और, रंगों का क्रम भी झंडे में कितना सुन्दर है कि सफेद रंग बीच में है जो उत्पाद और व्यय दोनों का आधारभूत है जो अवस्थित है उस ही में तो उत्पाद और व्यय चलेगा। इससे हमको यह प्रेरणा मिलती है कि हम जगत में दूसरे पदार्थ का कुछ काम नहीं करते और हम अपने आपमें ही अपने अज्ञान और दुःखमयी अवस्था को विलीन करके ज्ञानमय वैराग्यमय अवस्था को रच सकते हैं। हम वही के वही हैं जो अनादि से थे निगोद से अब तक, हम कोई दूसरे नहीं हैं। पर्याय बदले, भव बदले, ढंग बदले, पर मैं वही का वही हूं। ज्ञान की ऐसी अभ्यस्त दशा हो जाय। आंखें खोलकर देखें तो तुरन्त चित्रण हो जाय कि यह पदार्थ इतना ही है और यह अपने में ही अपनी क्रियायें करता जा रहा है, दूसरे का कुछ नहीं करता। इस तत्त्वज्ञान का अभ्यास करना है।

तत्त्वज्ञान के बल से कषायमालिन्य हटाकर पवित्रता का अभ्युदय—तत्त्वज्ञान के प्रसाद से क्रोध, मान, माया लोभ आदिक कषायें शिथिल होती हैं। किसी पर क्या क्रोध करना, कोई मेरा बैरी नहीं है। जिस किसी भी जीवने मेरे प्रति कोई भी विरुद्ध बर्ताव किया हो उसने मेरे विरोध में कुछ नहीं किया, किन्तु अपने आपकी कषायों को शान्त करने के लिए ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अपने आपमें परिणमन किया। वह जीव मेरा विरोधी नहीं। स्वरूपदृष्टि से देखने वाले पुरुष की कला निहारो, किस कला के बलपर वह सुखी है। उसका मान कषाय शिथिल हो जाता है। यहां किनमें मान चाहना। यहां किसी ने अपमान किया तो उसने मेरे में क्या किया? उसने तो अपने में अपना ही परिणमन किया। ज्ञानी पुरुष में मायाचार भी नहीं जगता। वह तो जानता है कि जगत का कोई भी पदार्थ मेरा रक्षक नहीं है तो फिर मैं क्यों व्यर्थ में किसी पदार्थ के अर्थ छल, कपट आदि करूं। लोभ कषाय का भी वह ज्ञानी पुरुष त्याग कर देता है, लोभ के नष्ट होने से आत्मा में वास्तविक पवित्रता जगती है। इसीलिए लोभत्याग को शौचधर्म कहा है। शौच मायने पवित्रता। ज्ञान जगे, वैराग्य जगे, कषायें शिथिल हों, विकल्प हटें, अपने आपके स्वरूप की दृष्टि बने, ऐसी अपने आपकी दुनिया बने तो उस वैभव का मुकाबला जगत में कहीं अन्य पदार्थ से नहीं किया जा सकता है। सहाय होगा तो, यही तो सहाय होगा, ऐसा जानकर इस ज्ञान और वैराग्य के लिए अपने जीवन को लगायें तो इसमें अपना भला है।

अपने स्वरूपके यथार्थ निर्णयमें आत्मकल्याणकी निहितता—मैं क्या हूं, कबसे हूं, कब तक रहूंगा, क्या करता रहता हूं? इन चार प्रश्नों का उत्तर हो जाय सही तो उसका कल्याण है। भीतर की लगन सहित उत्तर हो जाय कि मैं क्या हूं? मैं एक चैतन्य पदार्थ हूं, अमूर्त प्रतिभासमात्र हूं, रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित केवल ज्ञाता द्रष्टा एक पदार्थ हूं। मेरा यहां अन्य कुछ हो ही नहीं सकता। इस अमूर्त मुझका दूसरा कौन क्या होगा? कबसे हूं? अनादि से हूं। रुलता चला आया हूं। रुलते-रुलते आज जो उत्कृष्ट मनुष्यभव पाया उसकी महिमा बतायी भी नहीं जा सकती। किसी चीज का मूल्य तब विदित होता है जब उसके सामने नकली खराब चीजें और पड़ी हों। इस मनुष्यभव का मूल्य तब समझा जा सकता है जबकि संसार की अनेक दुर्गतियों का भी विचार करें। निगोद जैसी दशा मिली, जिसमें एक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सेकेण्ड में २३ बार जन्म-मरण किया। पेड़, फल, फूल आदि हुए तो तोड़ा गिराया, छेदा, पीसा, सुखाया, नाना क्लेश पाये। कीड़ा-मकोड़ा, पशु-पक्षी आदि की पर्यायें प्राप्त हुईं तो उनकी दुर्गतियों को कौन नहीं जानता। कभी ऐसे भी किसी पशु को गाड़ी में जुता हुआ देखा होगा जिसका कंधा सूझा हुआ है, वहां से खून टपक रहा है, फिर भी बुग्गी में जुता है, उसपर बहुत बड़ा बोझा लोगों ने लादा हुआ है। उस जुते हुए को पीटते जा रहे हैं। यदि अधिक बोझ की वजह से वह पशु बैठ जाय, उठ न पाये तो लोग उसे डंडों से पीटते हैं। बाद में जब कामलायक न रहा तो उसे लोग कसाई को दे देते हैं। इस तरह के दुःख भी हम आपने पशुवों की पर्याय में प्राप्त किए। आज हम आप मनुष्य की पर्याय में आये। आज का एक-एक क्षण मूल्यवान है। इस मनुष्यभव को पाकर अपनी ज्ञानदृष्टि शुद्ध करें। लक्ष्य, ज्ञान हमारा पवित्र रहे तो जीवन सफल है।

अमूर्त ज्ञानस्वभावमात्र आत्मा का भावमात्र कर्तृत्व—मैं अमूर्त प्रतिभासमात्र हूं जो सबसे निराला है, जिसका अन्य कुछ भी नहीं है ऐसा यह मैं आत्मा क्या करता हूं, क्या कर सकता हूं? आत्मस्वरूप का यथार्थ परिचय मिल जानेपर सब स्वयं समाधान मिल जायगा। जब मैं अमूर्त हूं, प्रतिभासमात्र हूं, भावस्वरूप हूं तो इसकी परिणति क्या बन सकेगी? भावों की परिणति बनेगी। सुख भी भाव है, दुःख भी भाव है, जो जानना है वह भी भाव है, जो विकल्प विचार होते हैं वे भी भाव हैं। मैं भावों के सिवाय और कुछ क्या कर सकता हूं? जैसे बच्चे लोग पतंग का खेल किया करते हैं, वे भाव ही तो करते हैं। कंकड़, पत्थर परोस दिया और कह दिया, लो ये बूंदी हैं, ये लड्डू हैं, कुछ पतले पत्ते परोस दिये और कह दिया, लो ये पतली पूड़ी कचौड़ियां हैं। ये बच्चे लोग जैसे भाव ही करते हैं, इसी प्रकार इस अमूर्त प्रतिभासमात्र आत्मा के स्वरूप को निरखकर आप उत्तर दीजिए। आप क्या करते हैं? क्या आप व्यापार, दूकान, रोजिगार

Report any errors at vikasnd@gmail.com

आदि करते हैं ? अरे वहां भी आप भाव ही करते हैं, पूजा, पाठ, तपश्चरण, दान आदिक जो भी आप करते हैं उनमें भी आप भाव ही करते हैं। तब समझ लीजिए कि मैं जगत में अन्य क्या काम करता हूं ? मैं जग का करता क्या काम ?

परमें अकर्तृत्व का एक दृष्टान्त—एक सेठजी के चार पुत्र थे। उनका सबसे बड़ा लड़का व्यापारी था, उससे छोटा लड़का जुवारी था, उससे छोटा अंधा था और सबसे छोटा लड़का पुजारी था। तो बड़े लड़के की स्त्री रोज-रोज अपने पति से कहे कि आप तो इतना कमाते हैं, खाने वाले ये सब हैं। आप तो इन सबसे अलग होकर रहिये। यों झक-झक कुछ दिनों तक घर में चलती रही। कुछ दिन बाद वह बड़ा लड़का कह उठा कि पिताजी अब तो हम अलग होकर रहेंगे। तो पिता ने समझाया और कुछ देर बाद कहा कि अच्छा बेटा न्यारे हो जाना, पर पहिले अपन लोग एक काम करलें। सब लोग मिल-जुलकर तीर्थयात्रा करलें क्योंकि न्यारे-न्यारे हो जाने पर न जाने किसका कैसा भाग्य है, फिर तीर्थयात्रा हो सके या न हो सके। आखिर सब सलाह करके तीर्थयात्रा करने चल पड़े। मार्ग में किसी नगर के निकट जब वे ठहरे तो पिता ने १०) बड़े लड़केको दिया और कहा—जावो बेटा—बाजार से भोजन सामग्री खरीद लावो। तो उसने क्या किया कि १०) का एक जगह कुछ सामान खरीदा और दूसरे मुहल्ले में जाकर उसे बेच दिया। १) लाभ में मिला। अब वह ११) की भोजन सामग्री लेकर पहुंचा। सबको भोजन कराया। दूसरे दिन उससे छोटे जुवारी लड़के को १०) देकर कहा—जावो बेटा भोजन सामग्री खरीद लावो। सो उसने क्या किया कि रास्ते में कहीं जुवा हो रहा था तो दसों रुपये दाव में लगा दिये। भाग्य की बात कि १०) उसे लाभ में मिले। अब वह २०) की भोजन सामग्री ले गया और सबको खूब खिलाया। तीसरे दिन अपने तीसरे अंधे लड़के को १०) देकर पिता ने कहा—जावो बेटा आज तुम भोजन सामग्री लावो। तो उसके साथ

http://sahjanandvarnishastra.org/

उसकी पत्नी भी चली। मार्ग में किसी जगह एक पत्थर की ठोकर उस अंधे के लग गयी। सो अपनी पत्नी से कहा कि इस पत्थर को उखाड़ दो, नहीं तो और किसी के लग जायगा। स्त्री ने ज्यों ही उस पत्थर को उखाड़ा कि उसके नीचे उसे अशर्फियों का हंडा मिला। अब क्या था? उसने जाकर खूब भोजन सामग्री खरीदी, सबको खूब खिलाया और बहुतसी अशर्फियां भी पिता के सामने उड़ेल दीं। चौथे दिन अपने चौथे पुजारी लड़के को १०) दिया और कहा—आज बेटा तुम भोजन सामग्री लावो। उसे रास्ते में एक मंदिर मिला तो उसने क्या किया कि १०) में कटोरा, घी, बत्ती आदि खरीदा और मंदिर में जाकर पूजन आरती ध्यान करने लगा। भक्ति करते-करते बहुत समय हो गया तो वहां के अधिष्ठाता देव ने सोचा कि यह तो पूजन में लीन हैं, इसके घरके सभी लोग भूखे बैठे हैं, सो यह सोचकर उस पुजारी लड़के जैसा ही उस देव ने अपना रूप बनाया और कई गाड़ियों में बहुतसा सामान लादकर उसके पिता के पास पहुंचा दिया। सभीने खूब भोजन किया और नगरके बहुतसे लोगोंको भी भोजन कराया। बादमें वह पुजारी लड़का पूजन करके निपटा और बहुत पछताने लगा कि हम तो आज पूजन करने में लीन होगए, हमारे घर वाले सभी लोग आज भूखे रह गए। सो जल्दी ही अपने परिजनोंके पास जाकर पितासे कहा—पिताजी आज हमसे बहुत गलती हुई, हम तो पूजा-पाठ करनेमें लग गए। समयका कुछ ध्यान भी न रहा और आप सभी लोग आज भूखे रह गए होंगे। उसकी बात को सुनकर पिता को आश्चर्य हुआ। लड़के लोग भी आश्चर्य में पड़ गए कि देखो इसी ने तो बहुत गाड़ी सामान यहां लाकर डाला और यही इस तरह कहता है। सबने समझ लिया कि वह देव ही कोई आया था। बादमें पिता अपने बड़े लड़के से कहता है—कहो बेटा तुम्हारा भाग्य कितना है? बोला १) का। और, जुवारी लड़केका? ....हमसे १० गुना। और, अंधे लड़के का? हमसे हजारों गुना। और, पुजारी लड़केका? अरे उसके भाग्यका तो कुछ कहना ही क्या? जिसको देव सेवा करें। अब उस बड़े लड़के को अपने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अहंकारपर पछतावा हुआ । तो भाई यहां कोई कमाने वाला नहीं है । सबके साथ उनका अपना-अपना भाग्य लगा है ।

स्वमें श्रद्धान ज्ञानकी लगन होने से स्वरमणककी भविष्यमें निश्चितता—मैं जगका करता क्या काम ? मैं अमूर्त प्रतिभासमात्र यह चेतन केवल भाव ही तो करता हूं । भावों से ही तृप्ति है, भावों से ही आनन्द है, भावोंसे ही दु:ख है, भावोंसे ही मोक्ष है, भावोंसे ही संसारमें रुलना है । तब आप समझिये कि हम आपको करनेके लिए क्या काम मुख्य पड़ा हुआ है ? एक अपने भावों की ही सम्हाल करना है, अपने ही स्वरूप को निरखने और उसमें ही रत होनेका ध्यान रखना है । यहां अन्य कोई सारभूत बात नहीं, सार इसी स्थितिमें है कि मैं अपने स्वरूप को जानूं और उसमें ही रमता रहूं । ऐसा करनेके लिए अन्तरङ्गमें एक श्रद्धा होनी चाहिए । भीतरमें यदि श्रद्धा बसी हो तो यह बात करली जाती है । बाह्य वस्तुओंके सम्बंधमें यदि हमारी लगन हो, धुन हो तो भी उसपर हमारा कोई वश नहीं । तो परवस्तुवोंकी उपेक्षा करके एक अपने आत्मस्वरूपके अनुभवन, उसमें ही रमण करनेकी धुन बन जाय तो बस इसी सारभूत कार्यसे सर्व बाधायें टलेंगी, शान्ति का मार्ग प्राप्त होगा । सम्यक्त्व होनेका ऐसा अतुल प्रभाव है । एक सही दिशा तो हम बनालें, यही एक बहुत बड़ा काम है, किन्तु इसके लिए धुन चाहिए, लगन चाहिए । एक ऐसा नियम कर लीजिए कि मुझे तो इस कार्यके अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं करना है । ऐसी धुन हो, ऐसा यत्न हो तो इसमें सफलता अवश्य मिलेगी । बाह्य पदार्थों में कुछ भी करनेकी धुन न बनायें, क्योंकि यह नियम नहीं कि मेरे मनके अनुकूल बाह्यमें परिणमन हो ही जाय, पर अपने आपके स्वरूपकी धुन बने तो यह कार्य जरुर बनेगा । इस कार्यमें सफलता अवश्य मिलेगी । बाह्य पदार्थोंकी हठ एक तो निभ नहीं सकती । थोड़ी बहुत कभी निभ जाय तो उसमें सारका काम नहीं । निभना तो यों कठिन है कि हम इन अनन्त जीवोंके कोई बादशाह तो नहीं है । हम ही तो समर्थ नहीं हैं कि जो हम हठ करें सो वह हो ही जाय । अरे मेरे

Version 1

ही समान अथवा मुझसे भी समर्थ इस जगतमें और भी तो जीव हैं, कहां तक हठ निभेगी ?

परवस्तुके हठमें अभीष्टकी सिद्धिका अनिश्चय—कोई स्त्री पुरुष थे, तो स्त्रीकी ज्यादह चलती थी। वह अपने पतिपर अपना रौब जमाना चाहती थी। वह पुरुष उस स्त्रीसे बड़ा प्रेम भी करता था। एक दिन उस स्त्रीके मनमें आया कि हमें अपने पतिदेवकी परीक्षा करना चाहिए कि यह हमसे प्रेम करते हैं या नहीं। सो वह स्त्री सिरदर्द व पेटदर्दका बहाना करके पड़ गई। (ये ही दो बहाने ऐसे हैं जिनका डाक्टर तक भी सही पता नहीं पाड़ सकते) पतिदेवने आकर पूछा—क्या बात है देवी ? तो स्त्रीने कहा—हमारे बहुत बड़ा सिरदर्द व पेटदर्द है। बहुतसे वैद्य बुलाये किसीसे दर्द ठीक नहीं हुआ। बहुत समय बाद पतिने कहा कि किसी तरह से दर्द ठीक भी होगा ? अभी हमें कुछ निद्रासी आयी, सो एक देव आकर कह गया है कि जो तुमसे बहुत अधिक प्रेम करता हो वह यदि अपने मूंछ मुड़ाकर प्रातःकाल दर्शन दे तब तो तुम बच सकती हो, नहीं तो मर जावोगी। सो क्या था, पति तो उससे प्रेम करता ही था। सो झट अपनी मूंछ मुड़ायी और प्रातः काल होते ही उसे दर्शन दिया। (प्रहिले समयमें मूंछ मुड़ाना बुरा समझा जाता था) अब तो उस स्त्रीने प्रतिदिन चक्की पीसते समय एक गीत गाना शुरु कर दिया—अपनी टेक रखाई, पतिकी मूंछ मुड़ाई। कई दिनों तक सुनते-सुनते जब वह पुरुष हैरान हो गया तो झट एक दिन अपनी स्वसुरालको चिट्ठी लिख दी कि आपकी लड़की सख्त बीमार है। उसके बचनेका सिर्फ एक उपाय किसी देवने बताया है कि उसके जो मां, बाप, भाई, बहिन, बुआ आदिक उससे प्रेम करते हों वे अपने-अपने सिर, मूंछ आदि मुड़ाकर प्रातःकाल होते ही उसे दर्शन दें तो वह बच सकती है अन्यथा वह नहीं बच सकेगी। फिर क्या था, उसके मां-बाप, भाई-बहिन, बुआ आदिक सभी अपने मूंछ व सिर वगैरह मुड़ाकर प्रातःकाल होते ही हाजिर हुए। उस समय वह स्त्री

http://www.jainkosh.org

वही गीत गा रही थी—अपनी टेक रखाई, पतिकी मूँछ मुड़ाई। तो उस समय वह पुरुष कहता है—पीछे देख लुगाई, मुँडो की पल्टन आई। देखो, हठमें स्त्रीने कैसी मुंहकी खाई।

अभीष्ट परिणमनमें भी परका अकर्तृत्व—मतलब यह है कि हम चाहते हैं कि दूसरोंपर हमारी हठ निभे, पर यह बात बन कैसे सकती है? हम ही तो इस जगहके ईश्वर या प्रभु नहीं हैं। हम भी कर्मोंके प्रेरे हैं। हमसे भी अधिक कलावान अनेकों लोग पाये जाते हैं। परपदार्थोंमें स्नेह करना और उनमें अपनी हठ बनाना यह व्यर्थकी बात है। यह अमूर्त प्रतिभासमात्र आत्मा अपने भावभर बनाता है। अन्य कुछ करता हूं ऐसी तो एक भ्रमभरी बात है। एक कोई बहुत बड़ा दानवीर पुरुष था, अथवा कोई सम्राट हो, वह जब दान देवे तो अपना सिर नीचा करके शर्मिन्दासा होकर देता था। तो कुछ लोगोंने उससे पूछा महाराज! आप इतना तो दान करते हैं, बहुत बड़े आप दानी हैं फिर भी आप दान देनेमें अपना सिर नीचा करके (एक शर्मिन्दासा होकर) क्यों दान देते हैं? तो वह दानवीर कहता है कि—देने वाला और है, देत रहत दिन रैन। लोगनको है भ्रम मेरा, तासो नीचे नैन। देने वाला तो कोई और ही है, मैं तो देता नहीं हूं। पर लोगोंको मेरे प्रति भ्रम है कि यह दान देते हैं इसलिए शर्मिन्दा होकर मेरा सिर झुक जाता है। मैं कुछ नहीं करता, मैं तो मात्र भाव बनाता हूं। बस इसी एक अपने स्वरूप की सम्हाल करना है। यही तीनों लोक में एक सारभूत काम है।

रत्नत्रयरूप धर्मकी शरण्यताकी घोषणा—मैं कहां जाऊं, किसकी शरण गहूं, किसके आगे प्रार्थना करुं, किससे भीख मांगूं कि वह मेरी रक्षा करदे? मैं सत् हूं, सदा रहूंगा। मेरा साथ निभाने वाला यहां कौन है? साथ कौन जायगा? केवल मैं ही मेरा साथी हूं, मेरा कोई दूसरा साथी नहीं। फिर मेरा सुधार अथवा बिगाड़ करने वाला यहां कौन? मैं ही अपना सुधार करता हूं और मैं ही अपना बिगाड़ करता हूं। मैं बाहरमें किसीका कुछ नहीं करता, ऐसा देखना है और जगत में जो भी पदार्थ दिखें उनके

Version 1

सम्बंधमें यह निर्णय रखना है कि सबका परिणमन अपने आपके प्रदेशोंमें होता है, कोई किसी अन्यके परिणमनको नहीं करता। अपने स्वरूपनिर्णयका सही उपाय क्या है ? अपने ऐसे अमूर्त प्रतिभासमात्र स्वरूपकी जानकारी रखना और ऐसा ही जाननेमें निरन्तर बने रहना अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्ररूप रहना है। तत्त्वार्थसूत्रमें जो प्रथम सूत्र सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः है, आजका राष्ट्रीय ध्वज भी इस सूत्रका समर्थन कर रहा है। राष्ट्रीय ध्वजमें तीन रंग हैं, हरा श्वेत और लाल। सम्यग्ज्ञानका जब भी वर्णन होगा तो स्वच्छतासे होगा। सम्यक्चारित्रका वर्णन हरे रंगसे होता है। जब कुछ अपनी उन्नति है, तरक्की है तो वहां हरे रंगसे वर्णन होता है। सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ? विपरीत अभिप्रायके विनाशको सम्यक्त्व कहते हैं। तो विपरीत अभिप्रायका ध्वंस है, उसका संकेत लाल रंगमें होता है। तो यों भारतका राष्ट्रीय ध्वज भी सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः इस आत्महितमार्गदर्शक सूत्रकी पुष्टि करता है।

रत्नत्रयरूप धर्ममें सहज ज्ञानभावके अभ्युदयका विलास—और भी देखो—जैसे कि समयसारमें वर्णन किया गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र क्या है ? ज्ञानका जीवादिकश्रद्धानस्वभावसे होनेका नाम सम्यग्दर्शन है। ज्ञानका जीवादिककी जानकारीके स्वभावसे होनेका नाम है सम्यग्ज्ञान। ज्ञानका विकारसे दूर रहनेके स्वभावसे होनेका नाम है सम्यक्चारित्र। तो जैसे ज्ञानस्वभावपर श्रद्धानका भी रंग है, चारित्रका भी रंग है तो उसमें ज्ञान माध्यम हुआ, इसी प्रकार ध्वजमें भी सफेद रंग ज्ञानका माध्यम है। यह एक प्रासंगिक बात कही। तात्पर्य यहां यह है कि हमारा रक्षक, हमारा पिता, हमारा सर्वस्व हमारा ही ज्ञान है। मैं सहज ज्ञानमात्र हूं, मात्र जानन स्वभाव हूं, प्रतिभासस्वरूप हूं यों चिन्तनमें सामान्य चितत्त्व ही रहता है। उस निर्विकल्प अखण्ड प्रतिभासस्वरूप अन्तस्तत्त्वका अनुभव होनेपर सुविदित होता है कि यह मैं अमूर्त प्रतिभासमात्र चेतन पदार्थ अपने ही स्वरूप चतुष्टय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

में रहकर अपने भावोंका ही निर्णय करता रहता हूं, अन्यका कुछ नहीं करता। होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ?

परकृत परिणाममें अशुचिता—जिसने अपने स्वभाव और परभावमें भेद जाना है, जिसने स्वभावकी महिमा समझी है और परभावोंको दुःखरूप जाना है ऐसा पुरुष ही एकमन होकर स्वभावमें लग पाता है। यह स्वभाव शुचि है, पवित्र है, आत्माका चैतन्यस्वभाव अपने आपके सहज सत्त्वके कारण जो कुछ भी आत्मामें चमत्कृति है वह पवित्र है। उसीके कारण समस्त द्रव्योंमें सार आत्माको कहा है और आत्माकी समस्त अवस्थाओंमें सार एक चैतन्य स्वभावको कहा है, जबकि परभाव इससे विपरीत हैं, कर्मोंका निमित्त पाकर आत्मामें उत्पन्न होनेवाले विकार अपवित्र हैं। लोग कहते हैं कि नाली बड़ी गंदी है, बदबू आती है, इसमें बहुतसे कीड़ोंका कलेवर है, तो लोग नाली को और मांसको गंदा बताते हैं लेकिन यह तो बताओ कि यह नाली और मांस, कीड़ोंका वह कलेवर आया कहांसे ? इसी जीवित शरीरसे। जब यह प्राणी न मरा था, जैसे कि हम आप सब जीवित हैं। हम आपका जो यह मांस है वही तो वह है। तो सड़ेगले मांसको गंदा किसने किया ? हमारे शरीरने। अच्छा अब शरीरकी बात सोचो। शरीरमें जो परमाणु आये वे परमाणु जब तक निराले थे, उनका हमने ग्रहण न किया था तब तो वे गंदे न थे। तो उन परमाणुवोंको गंदा किसने किया ? इस संसारी जीवने उन परमाणुवोंको शरीररूपमें जो बनाया तो गंदा किसने किया ? इस संसारी जीवने, मोहीने। जीव गंदा नहीं, पर जीवमें जो मोहभाव है वह गंदा है। तो समस्त गंदगीकी जड़ क्या निकली ? मोह। रागद्वेष विकार भी गंदा भाव है, पर उनको पुष्ट करने वाला है मोहभाव। तो यह विकार ही वास्तवमें अपवित्र है।

परकृत परिणामकी अध्रुवता— स्वभाव और परभावमें अन्तर तकिये। स्वभाव शाश्वत रहता है, ध्रुव है, कभी धोखा नहीं दे सकता।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हम स्वभावकी शरणमें न जायें यह हमारी भूल है, पर शरणभूतस्वभाव तो शाश्वत अन्तः प्रकाशमान हैं, लेकिन ये परभाव कर्मोदयका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए, दूसरे क्षण नहीं रहते। चूँकि यह जीव जिस समय अपवित्र है इस लिए विकारके बाद विकार आते रहते हैं, पर जो विकार हुआ वह दूसरे क्षण नहीं ठहरता, वह अध्रुव है। मोही जीव मोहकी वेदनाके वश होकर इलाज समझता है मोह करनेको ही, और यही हो रहा है संसारमें। कषायकी वेदना से होता है जीवोंको क्लेश और उस क्लेशके मेटनेका उपाय समझते हैं कषाय करना ही। अरे ये विकार भाव अशरण हैं। इनकी शरण गहना मोहांधकार में ही सम्भव है। विकार मेरा स्वरूप नहीं। एक यह चैतन्यस्वरूप ही मेरा है। इन परभावोंके प्रसंगमें इन विकारोंके संगमें, अशरण्य विकारके विषय-भूत विषयोंके व्यासगमें मेरा गुजारा नहीं चल सकता।

दूर हटो परकृत परिणाम—लोकमें मेरा कौन ? जब घनिष्ट घुला-मिला यह शरीर भी हमारा साथी बनकर नहीं रह सकता तब फिर अन्य प्रकट भिन्न परपदार्थ मेरे साथी कैसे बन सकेंगे ? तो स्वभाव और परभावके अन्तरका अध्ययन करना यही है सच्चा अध्ययन और विभावसे हटकर स्वभाव में लगना यही है सांचा कार्य। तो यह अन्तस्तत्त्वका रुचिया ज्ञानी संत स्व-भाव विभावका भेद जानकर विभावोंकी उपेक्षा करके स्वभावभक्तिमें लगता है। और, स्वभावभक्तिमें रहते-रहते स्थिरता न हो पानेसे जब अलग होता है तो वह बड़ा क्लेश मानता है। जब आत्मभक्तिमें स्थिर न होनेसे स्वसे हटता है तब इतना खेद मानता है कि कहां तो उस निराकुल ज्ञानामृतका स्वाद लिया जा रहा था, बड़ी निराकुल दशा थी और अब वहांसे हटकर परभावों में आकर कहां यह दुर्दशा, अंतः आवाज निकलती है—ओह ! दूर हटो परकृत परिणाम। मैं दुःखी होगया, हैरान होगया, बरबाद होगया। ऐ परकृत परिणाम ! तुम दूर हटो, मुझे मेरे अमूर्त धाममें पहुंचने दो, जहां मैं अभी निकटमें था।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विभावके नियामकत्वकी मीमांसा—इन विकारोंको परकृत परिणाम कहते हैं। इन विकारोंका यद्यपि अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव आत्मासे है अर्थात् ये रागादिक भाव आत्मामें समाये हुए हैं और इनमें आत्मा समाया हुआ है, लेकिन इनका निर्माणनियम अन्तर्व्याप्यव्यापक भावसे नहीं है। निर्माणनियम वहीं हो सकता है जहां यह अन्वय व्यतिरेक हो कि जिसके होनेपर विकार हो, जिसके न होनेपर विकार न हो। यह नियम तो बहिर्व्याप्यव्यापकभावमें सम्भव है। बहिर्व्याप्यव्यापकका मतलब यह है कि जिसके साथ सम्बंध बन रहा है वह तो है अलग और ये नैमित्तिक रागादिकभाव हैं अलग। पृथक् भिन्न-भिन्न दो पदार्थ हुए हैं, वहां व्याप्य व्यापक सम्बंध है। तो सा नहीं कह सकते कि आत्माके होनेपर रागादिक हों और न होनेपर न हों। वह तो बेतुकी बात है। जब आत्मा हो तब रागादिक हों यह नियम तो नहीं। पर कर्मविपाकके साथ इन रागादिकका अन्वय व्यतिरेक है। देखिये—ज्ञानवीर वही होगा जो निमित्त नैमित्तिक सम्बंधको भी यथार्थ जानता हो एवं वस्तु-स्वरूप की स्वतंत्रताको भी समझता हो। वस्तुस्वातंत्र्यका घात हो जायगा इसलिए निमित्तको कुछ मत मानो। अरे निमित्तको कुछ न मानोगे, उसकी जो सन्निधि है उसका अपेक्षण न मानोगे, उस प्रसंगमें तो यहां बड़ी विडम्बना बनेगी। आत्मामें जब रागादिक होते हैं उस समय बकरा, घोड़ा, गधा आदि जो भी खड़े हों वे निमित्त बन जाते हैं क्या ऐसी अटपट बात है। यों कर्म निमित है, वह निमितकी बात नहीं। निमित्तनैमित्तिक सम्बंध माननेसे आत्माकी स्वतंत्रताकी अधिक ख्याति होती है। उस निमित्त नैमित्तिक सम्बंधकी यथार्थ जानकारीसे विदित होता है कि इन रागादिक विकारोंसे आत्माका क्या सम्बंध ? इस आत्मामें विकार है कहां ? जब जो दृष्टि आये आने दो, तत्त्वज्ञानी पुरुष हर दृष्टियोंसे अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी निरख कर लेता है। यहां परकृतकी परख चल रही है इस कारण यह बात कही जा रही है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

परकृत विभावके नैमित्तिकत्वके परिज्ञानका अन्त: स्वच्छताके परिचयमें सहयोग—जैसे दर्पणमें हस्तादिककी छाया आयी तो उसमें दर्पण का क्या दोष ? दर्पण तो ज्योंका त्यों स्थिर है, दर्पण तो पूर्ण स्वच्छ है, दर्पणमें वह छाया तो परके निमित्तसे हुई है। इसी तरह आत्मा तो ज्योंका त्यों शुद्ध है पर उसमें ये रागादिक विकार परके निमित्तसे हुए हैं, इन्हें परकृत कहते हैं अथवा परिकृत कह लीजिये। यह परिकृत शब्द ही निमित्तको सिद्ध करता है। परिकृतका अर्थ है परिसमन्तात् किए गए। की गई चीज निमित्त बिना नहीं होती, पर ये होते हैं आत्माके सर्वप्रदेशोमें। सर्वप्रदेशोंमें रागादिक तो हुए, लेकिन वे ऊपरी कहलाते हैं, स्वभावमें वे रागादिक नहीं जा घुसे। सर्वप्रदेशोंमें राग व्याप गया, कोई प्रदेश खाली नहीं रहा, अखण्ड आत्मा है। रागादिक परिणति हुई तो समस्त आत्मामें हुई, पर वह राग स्वभावमें नहीं व्याप गया। वह तो एक ऊपरी चीज है। राग आत्माका अन्त: स्वरूप नहीं बना। ऐसे परकृत परिणाम, परिकृत परिणाम दूर हटो।

विभाव परिणामोंके दूरापसरणका अन्तिमेत्थम्—हे परकृत परिणामो ! मुझमें अनादिकालसे तुमने घर बना रखा है, खूब पनपे हो अब तक। अब मेरे समझ हुई। अब तुम यह धाम छोड़ो, मुझे अपने आपके आनन्दधाम का आनन्द लेने दो। ऐ रागादिक भावो ! तुम अनादिकालसे अभी तक इस मुझ आनन्दधाममें बसे हुए हो, अब तुम दूर हटो। मैं अब अनन्त भविष्यकाल तक यहां आनन्दसे रहूंगा। ज्ञानी पुरुष आगाह करके, घोषणा करके इन रागादिक भावोंपर विजय कर रहा है, रागादिक भावोंका विनाश कर रहा है। भले ही इन रागादिक विकारोंने बिना कुछ आगाह किये हमपर अब तक आक्रमण किए रहे, पर ऐ रागादिक विकारो, अब तुम दूर हटो, यो ज्ञानी पुरुष आगाह करके इन रागादिक भावोंपर विजय प्राप्त कर रहा है। जब कोई दर्शक, पूजक अथवा उपासक पुरुष मंदिरमें आता है तो मंदिरमें प्रवेश करते समय वह नि:सही, नि:सही शब्दोंका उच्चारण करता है। उसका भाव क्या है कि ऐ रागादिक भावों ! बहुत काल तक या दिनमें भी देखो २३ साढ़े

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

१३ घंटे तुम हमपर सवार रहे, अब हम वीतराग प्रभुके मंदिरमें जा रहे हैं, वहां तुम्हारी दाल न गल सकेगी। वहां वीतराग प्रभुकी मुद्रा दर्शनमें आयगी। स्तवन आदिक द्वारा वीतरागभाव दृष्टिमें रहेगा, वहां तुम्हारी दाल न गल सकेगी। तुम मेरे बड़े साथी रहे इसलिए हमारा कर्तव्य था कि तुमको आगाह करदें, कहीं बिना पतेमें तुम्हारी दुर्गति न हो, इसलिए धीरेसे तुम भागो, हम प्रभुदर्शनको जा रहे है। यह ज्ञानी संत इन रागादिक भावोंको ठीक-ठीक समझाकर कह रहा है कि दूर हटो परकृत परिणाम।

परकृति परिणामकी हैरानी—इस परकृतको परकृति कहकर भी कुछ समझ आयगी और परकृति परिणाम बताकर भी इससे कुछ अध्ययन मिलता है, परपदार्थमें कृति करनेका जो परिणाम है, कुछ करनेका परिणाम है, जो कर्तृत्व परिणाम है सो दूर हटो। जीव अब तक परपदार्थमें कर्तृत्व बुद्धि लगाकर आकुलित होते चले आये हैं। अजी, अभी यह काम और पड़ा है बस इतनी ही हैरानी है। कमसे कम मानव जगतमें तो इसको अच्छी तरह समझ सकते हैं कि हम आप सब लोगोंके सामने हैरानी क्या है? एक न एक काम करनेको पड़ा हुआ है दिमागमें, बस यही हैरानी है। सारी हैरानीको संक्षिप्त में बताया जाय तो यही बताया जा सकता, परकृति परिणाम। परपदार्थमें कृतिका, कुछ पड़ा है करनेको, इस तरहका जो भाव है बस वही हैरानी है। सम्यक्त्वके होनेपर तुरन्त ही निराकुलताका जीवन बनने लगता है। सो देखिये—जहां निजको निज परको पर जान लिया, निज है सहज ज्ञानस्वभाव रूप, अपने आपमें अपनी अर्थ पर्यायसे परिणमते रहना, और कुछ बात यहां गुजरती ही नहीं। ऐसा जहां बोध होता है, परमें कुछ करनेको है ही नहीं, जिस क्षण यह ज्ञानविद्युत् प्रकाश उपयोगमें समाया हुआ होता है उस क्षण तो वह आकुलता फटक नहीं पाती। देखिये—छोड़कर सबकुछ जाना है। और, काम अधूरे ही रहेंगे। काम अधूरे तो नहीं रहते, काम तो सब पूरे हैं, पूरे रहेंगे, पूरे थे, अधूरा तो कोई काम होता ही नहीं है। लेकिन इस अभिलाषी के दिमागकी दृष्टिसे कह रहे हैं कि काम अधूरे ही रहेंगे, क्योंकि इसने ऐसा समझ रखा है काम बननेपर कि हमारे करनेको अभी इतना काम और पड़ा है कभी विश्राम ही नहीं मिलता।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

परिकृति परिणामसे भावविडम्बना—एक किम्वदन्ती है कि एक बार नारद घूमनेके लिए चले, पहिले नरकोंमें गए तो वहां इतनी भीड़ थी कि उनको खड़े होनेकी जगह भी न मिली। यहांसे झुंझलाकर लौट आये। स्वर्गोंमें घूमने गए तो वहां क्या देखा कि सारा स्वर्ग खाली पड़ा है। केवल विष्णुजी वहां अकेले आरामसे पड़े हुए थे। नारद बोले—हे नारायण! आप तो बड़े पक्षपाती हैं। आपने नरकोंमें तो इतने जीव भेज दिए कि हमें वहां खड़े होनेकी जगह भी न मिली और यहां आप अकेले आरामसे पड़े हुए हैं। तो विष्णु बोले—हे नारद तुम्हें हम आज्ञा देते हैं कि जितने जीव यहां ला सकते हो ले आवो। हम तो बहुत चाहते हैं कि कोई जीव यहां आये, पर कोई आता ही नहीं है। नारद बड़े खुश हुए और जीवोंको स्वर्गोंमें लानेके लिये चल पड़े। सबसे पहिले मध्यलोकमें आये। किसी बूढ़ेसे कहा—चलो बूढ़े बाबा हमारे साथ, हम तुम्हें बैकुण्ठ ले चलेंगे, वहां तुम सुखसे रहोगे। सो बूढ़ा तो जानता था कि बिना मरे बैकुण्ठ मिलता नहीं, सो वह बूढ़ा झुँझलाकर बोला—अरे चलो यहांसे, और किसीको लेजाओ, क्या हमीं तुमको मिले मरनेके लिये, बैकुण्ठ ले जानेके लिए? नारद इस तरहसे कई बूढ़ोंके पास गए, पर सभी बूढ़ोंने मना कर दिया। बादमें जवानोंके पास गए तो जवानोंने भी अपने अनेक काम बता दिए और नारदके साथ बैकुण्ठ जानेके लिए मना कर दिया। बादमें नारदजी लड़कोंके पास गए। एक १८-१९ वर्षका लड़का माथे पर तिलक लगाये हुए एक मंदिरके चबूतरेपर बैठा हुआ था। उससे नारदने कहा—बेटा तुम हमारे साथ चलो, हम तुम्हें स्वर्ग ले जायेंगे, वहां तुम सुखसे रहोगे। वह बालक नारदके साथ चल पड़ा, मगर थोड़ा ही चलकर रुक गया, बोला—ऋषिजी, अभी तीन-चार दिन बाद हमारी शादी है, रिश्तेदार लोग घर आ गए हैं, शादी हो जाने दीजिए, आप ५ वर्षके बादमें आना तब हम जरूर आपके साथ चलेंगे। जब ५ वर्ष बाद नारदजी आये—कहा अब तो चलो बेटा, तो वह बालक बोला—ऋषिजी हमारे पास १ वर्षका बच्चा है, उसे कुछ समर्थ हो जाने दें तब हम आपके साथ चलेंगे। सो आप अब २० वर्ष बादमें आना। २० वर्ष बादमें जब नारद आये और कहा—अब तो चलो बेटा—तो वह कहता है कि नारदजी, हमने बहुतसा धन कमाया, हमारा पुत्र

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कुपूत निकल गया, यदि हम आपके साथ गए तो यह सारा धन बरबाद कर देगा, इसलिए हम इस भवमें तो आपके साथ नहीं जा सकते, पर आप अगले भवमें आना, तब हम जरुर आपके साथ चलेंगे। सो वह तो मरकर खजानेके कोठेमें सर्प बना। वहां भी नारद पहुंचे और साथ चलनेके लिए कहा—तो वह सर्प अपना फन हिलाकर कहता है कि हम कैसे आपके साथ चलें ? हम तो इस धनकी रक्षाके लिए ही यहां पैदा हुए हैं। तो नारदने विष्णुके पास जाकर कहा कि नाथ ! आप सच कहते थे कि यहां कोई आनेको तैयार ही नहीं होता। तो क्या है, वह सब परकृति परिणामोंका जाल है। अभी मेरे करनेको यह पड़ा हुआ है, यह अधूरा काम है, इस प्रकारकी बात सब जीवों के मनमें है।

सहजानन्दमय रहनेकी भावना—भैया ! यहां कोई भी काम अधूरा नहीं होता है। जिस पदार्थका जिस क्षण जो परिणमन होता है वह पूर्ण होता है, इस रहस्यको न जानकर सब जीव परेशान हैं। अरे मेरे करनेको बाहरमें रखा ही क्या है ? सर्व परपदार्थ स्वतंत्र हैं, परिपूर्ण हैं, यों जानकर परिकृति परिणाम जब दूर हो जाते हैं तब शान्ति प्राप्त होती है। सो यह अंतस्तत्त्वका रुचिया ज्ञानी संत पुरुष कह रहा है कि दूर हटो परकृत परिणाम। ऐ समस्त परभावो ! तुम दूर हटो। अच्छा, हम तो दूर हो जायेंगे फिर आपका समय कैसे व्यतीत होगा ? अभी तो हम रागकी बातें लगाकर, कामके बहाने लगाकर तुमको व्यस्त रखते हैं, अब हमको हटा दोगे तो बतलावो तुम फिर क्या करोगे ? कैसे रहोगे ? हम तो तुमपर दया करके लदे हुए हैं। तो कहते हैं कि दूर हटो परकृत परिणाम। सहजानन्द रहूं अभिराम। मैं क्या करुंगा, कैसे रहूंगा सो सुनो—मैं सहज आनन्दस्वरूप रहूंगा। मेरा स्वरूप ही है यह आनन्द, और वह है सहज। सहज कहते हैं उसे जो "सह जायते इति सहजं", जो साथ ही उत्पन्न होता है। जबसे मैं हूं, जबसे जो हो मेरे साथ वह है मेरा सहज भाव। सहजका लोग आसान अर्थ करते हैं, सुगम अर्थ करते हैं। सहज का असली रूप आसान नहीं है, किन्तु सहज आसान हुआ करता है। जो-जो सहज होता है वह आसान हुआ करता है। इसलिए लोगोंने सहजका अर्थ आसान रख लिया। सहज कहते हैं उसे कि द्रव्यके सत्त्व से लेक रसत्त्व तक

http://sahjanandvarnishastra.org/

जो भाव रहे। वह है ज्ञानदर्शनकी भांति आनन्द भी। मैं सहज आनन्दस्वरूप रहूंगा।

अभिराम आनन्दमय रहनेका विनिश्चय—कहां रहोगे? वह जगह भी तो बतलावो। इस दुनियामें जितनी जगह है सबपर हमारा याने कर्मजाल का अधिकार है। रागभाव, विकारभाव पूछ रहे हैं कि कहां रहोगे? मैं रहूंगा सहज आनन्दस्वरूपमें याने अभिराम। राम मायने आत्मा। उस आत्मा के सर्वप्रदेशोंमें। हमें लोककी जगह न चाहिए। जहां रहे रहे, जहां न रहे न रहे, ये लोग मुझे भगादें तो भगादें, पर भगा न सकें यह बात अलग है। मुझे इसकी चिन्ता नहीं कि मैं कहां रहूंगा। मैं रहता ही कहां हूं? जब विकार उदित हो रहे तब भी मैं बाहर नहीं रह रहा। अपने ही स्वरूपमें रहता हुआ विकृत हो रहा हूं, और फिर विकार भावके हटनेपर तो स्वतंत्रतया सहज-भावसे सुगमतया दृढ़ताके साथ अनन्तकाल तक अपने आपमें रहूंगा।

आत्मोपासनाका अन्तः प्रभाव—आत्माका लक्षण जानकर, आत्म-कल्याणकी आवश्यकता जानकर इस कल्याणकी सुगमता समझकर आत्माकी निरन्तर भावनाकी इस ज्ञानी पुरुषने और उस आत्माकी दृढ़ अभेद उपासना के प्रतापसे अब यह स्थिति प्राप्त की अथवा निकट भविष्यमें प्राप्त करेगा। सर्व परभावोंसे जहां निवृत्त होनेकी बात कही वहां शरीर और कर्मकी निवृत्ति होनेकी बात तो स्वयं ही आ गई। यों शरीर, कर्म, विकार इनसे रहित होकर केवल मैं आत्माराम रहूं और अपने आपके सर्वप्रदेशोंमें ससज आनन्द-स्वरूप रहूं। इसके लिए अहर्निश यह भावना चाहिए जैसा कि मैं हूं, अपने आपके ही आधीन हूं। अपने आपके स्वरूपसे कभी चलायमान होने वाला नहीं हूं, निश्चल हूं। समस्त विकारोंसे रहित रहनेके स्वभाव वाला निष्काम सदा ज्ञानदर्शनकी परिणति परखनेवाला जानन देखनहार, ऐसा मैं स्वतंत्र निश्चल, निष्काम ज्ञाताद्रष्टा आत्माराम हूं।

—:ॐ:—

मुद्रक—जमना प्रिंटिंग प्रेस, न्यू भगवतपुरा, मेरठ

Report any errors at vikasnd@gmail.com